सिद्धांत-

त्ता

हिया लेन,

नया मदिर,

कलकत्ता

उक्त सभा का केन्द्रीय कार्यालय—

१६१ कालबा देवी रोड, बम्बई

—डूगरमल सबलावत
मंत्री शाखा-सभा
कलकत्ता

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस ट्रैक्ट मे श्रीमान कानजी स्वामी सोनगढ़वालो के शास्त्र-विरुद्ध मत और मन्तव्यों का अनेक आचार्यों के प्रमाणो द्वारा जोरदार खण्डन किया गया है। यह ट्रैक्ट केवल खण्डन-मात्र नहीं है किंतु दिगम्बर जैन-सिद्धान्त की क्या मान्यताए हैं, इस दार्शनिक दिग्दर्शन की एक उत्तम कुजी है। इसकी एक-एक प्रति प्रत्येक नगर के जिनमदिर मे रहनी चाहिये और सब भाइयों को इस ट्रैक्ट को मननपूर्वक पढना चाहिये।

इसके लेखक जैन तथा जैनेतर समाज-प्रख्यात उद्भट धुरधर विद्वान विद्यावारिधि वादीभकेसरी न्यायालकार न्याय-दिवाकर धर्मवीर श्रीमान् श्रद्धेय प० मक्खनलालजी शास्त्री है, जो मोरेना सस्कृत महाविद्यालय के सुयोग्य प्रधानाचार्य तथा जैन-दर्शन पत्र के प्रधान संपादक है।

पंचाध्यायी, राजवार्तिकालकार, पुरुषार्थसिध्युपाय जैसे महान् गभीर सस्कृत शास्त्रो की आपने महत्वपूर्ण विस्तृत टीकाए की है, तथा सिद्धान्तसूत्र समन्वय, सिद्धान्तविरोध परिहार, स्पृश्यास्पृशभेद विचार आदि अनेक ट्रैक्ट भी आपने अपनी प्रौढ विद्वत्तापूर्ण लेखनी मे लिखे है। तथा आर्यसमाज एव सनातनी विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्म की विजय-पताका भी आपने फहराई है। देहली और अबाला मे आपने जो शास्त्रार्थ किये थे वे पुस्तक रूप मे छप भी चुके है।

जब-जब आगम के सिद्धान्तो मे विरोध एव विवाद खडा हुआ है तब-तब आपने अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर धर्म की रक्षा की है। आगम-विरुद्ध विचारो के प्रचार को आप कभी सहन नहीं करते है। बडे से बड़ो का भी सामना कर निर्भीकता से शास्त्रो के सदुत्तर से उन्हे झुका देते है। साथ ही आप निरभिमानी, सरल एव लब्धप्रतिष्ठ व्रती गणनीय विद्वान है यही कारण है कि आप आगम पथप्रदर्शक समाज के माने हुए कर्णधार है। आप करीब २० वर्ष तक ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी रह है। आप को सेकेंड क्लास पावर के अधिकार प्राप्त थे। आपके फैसले हाई-कोर्ट तक से बहाल रहे है। यह आपकी न्यायपूर्ण कुशलता का परिणाम है। इस राजसेवा और लोकसेवा के उपलक्ष्य मे ग्वालियर दरबार ने आपको प्रमाणपत्र और सिरोपाव भेट किये है।

कलकत्ता समाज पर भी आपका पर्याप्त प्रभाव है। वह जब कभी आपको आमत्रित करता है तब आप पधार जाते है। इस वर्ष पर्व मे आपके विद्वत्ता एव अनुभवपूर्ण शास्त्रीय विवेचनो और भाषणो स यहा का समाज बहुत प्रभावित हुआ है। श्री कानजी स्वामी के मन्तव्यो को माननवाले भी शास्त्र-सभा मे आते थे, उनकी शकाओ का आप महत्वपूर्ण समाधान करते थे। प्रसिद्ध फर्म श्री० तीर्थभक्त शिरोमणि सेठ चांदमल धन्ना-लालजी पाटनी के पाटनी भवन मे आपको ठहराया गया था। पर्व की समाप्ति पर जब आपको घरेलू तौर पर उक्त फर्मवालो ने और दूसरे कई फर्मवालो ने विदायगी के रूप मे समुचित द्रव्य भेट करने का आग्रह किया तब आपने बडी प्रसन्नता के साथ यह कहा कि "मैं किसी भी रूप मे द्रव्य भेट स्वीकार नहीं करता हू। सर सेठ हुकमचंदजी आदि के यहा मुझे अनेक प्रसग भेट के आये है परतु मैने आज तक कभी भेट

नहीं ली है। आपका आदर रखने के लिये मै एक श्रीफल ग्रहण करता हू।" ऐसा कहकर थाल मे से श्रीफल लेते हुए आपने तिलक करा लिया। उपस्थित सभी महानुभावों ने उन्हे बड़े आदर के साथ पुष्पमालाए पहनाकर विदा किया। आपकी निस्पृह (निर्लोभ) वृत्ति का ही यह असर है कि समस्त समाज आपके वचनो को निरपेक्ष प्रामाणिक मानकर उनका पूर्ण आदर करता है। भा० दिगम्बर जैन-सिद्धान्त-सरक्षिणी सभा की स्थापना का मूल श्रेय आपको ही है। आपके ही सत्परामर्श से उक्त सभा की बम्बई मे स्थापना हुई थी। उसीकी शाखा-सभा कलकत्ता मे स्थापित हो चुकी है।

हमे यह लिखते हुए बहुत आनंद होता है कि आपके सभी भाई विद्वान् और धर्मनिष्ठ है। धर्मरत्न सरस्वती-दिवाकर श्रद्धेय पं० लालारामजी शास्त्री के समान आपके लघु भाई श्री बाबू श्रीलालजी जौहरी (जयपुर) भी दृढ़ धार्मिक है। सबसे बढ़कर महान् गौरव की बात यह है कि परम पूज्य आचार्य सुधर्म सागर महाराज भी आप के ही सहोदर भ्राता थे। जिन्होने सुधर्म-ध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार आदि सस्कृत ग्रन्थों की रचना कर समाज का महान् कल्याण किया है।

अत में हमारी यही भावना है कि आप इसी प्रकार समाज को पथ-प्रदर्शन करते हुए चिरजीवी बने रहे। इस ट्रैक्ट की छपाई मे जिन धार्मिक श्रीमानो ने द्रव्य दिया है उनके भी हम आभारी है और उन्हे धन्यवाद देते है।

साथ ही इतना आवश्यक निवेदन हम श्री कानजी स्वामी और उनके अनुयायियो से भी कर देना उचित समझते है कि वे इस ट्रैक्ट को हित-रूप सद्‌बुद्धि से पढ और मननपूर्वक शास्त्रो के रहस्य को समझकर अपने विचारो को शास्त्रानुकूल बनावे। तभी आप लोग अपना तथा दूसरो का कल्याण कर सकेंगे।

निवेदक

डूंगरमल जैन सबलावत, मन्त्री

बाबूलाल जैन, स० मन्त्री

श्री भा० दि० जैन-सिद्धान्त-संरक्षिणी
शाखा-सभा, कलकत्ता

इस पुस्तिका मे जिन-जिन शास्त्रो के प्रमाण दिये गये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१. धवल सिद्धान्तशास्त्र
—आचार्य भूतवलि पुष्पदंत तथा आचार्य वीरसेन

२. राजवार्तिकालकार
—आचार्य अकलकदेव

३ गोम्मटसार जीवकाण्ड
—सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द

४ गोम्मटसार कर्मकाण्ड
—सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द

५ समयसार
—आचार्य भगवत्कुदकुद स्वामी

६ पञ्चास्तिकाय समयसार
—आचार्य भगवत्कुदकुंद स्वामी

७ रयणसार
—आचार्य भगवत्कुंदकुद स्वामी

८ पद्मनंदि पञ्चविंशतिका
—आचाय पद्मनंदि स्वामी

९. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
—आचार्य अमृतचन्द्र सूरि

१० न्यायदीपिका
—यति धर्मभूषण

११ अष्टसहस्री
—आचार्य विद्यानंदि स्वामी

१२. सर्वार्थसिद्धि

—आचार्य पूज्यपाद स्वामी

१३ भाव-संग्रह

—आचार्य देवसेन

१४ तत्वार्थसूत्र

—आचार्य उमास्वामी

१५. परमाध्यात्म तरंगिणी

—आचार्य अमृतचन्द्र सूरि

१६ पञ्चाध्यायी

—आचार्य अमृतचन्द्र सूरि

१७ परमात्मप्रकाश

—आचार्य योगेन्द्रदेव

१८ षट्प्राभृतादि संग्रह

—भगवत्कुंदकंद स्वामी

१९. द्रव्य-संग्रह

—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

२०. प्रवचनसार

—आचार्य कुंदकुंद स्वामी

२१ रत्नत्रयसार

—आचार्य अकलंकदेव

२२ आत्मानुशासन

—आचार्य गुणभद्र

२३ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी

—श्री गौतम स्वामी

२४. दशभक्त्यादि संग्रह

—आचार्य पूज्यपाद आदि

२५ मूलाचार

—आचार्य कुंदकुंद स्वामी

२६ योगसार

—आचार्य अमितगति

२७ चरित्रसार

—आचार्य चामुन्द्रराव

२८ आत्मख्याति समयसार

—आचार्य कुंदकुंद स्वामी

२९ अष्टपाहुड़

—आचार्य कुंदकुंद स्वामी

३० परीक्षामुख

—आचार्य माणिक्यनंदि

नोटः—इस ट्रैक्ट में केवल ३० शास्त्रों के ही प्रमाण दिये गये है, जो मुख्य रूप से निश्चयनय का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु श्री कानजी स्वामी के मन्तव्यों के खंडन में दिगम्बर जैनमत के प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के हजारों की संख्या में सभी शास्त्र प्रमाण है।

—लेखक

समर्पण

श्रीमान् धर्मरत्न, सरस्वती-दिवाकर विद्वच्छिरोमणि
श्रद्धास्पद पूज्य प० लालारामजी शास्त्री के
करकमलो मे सविनय भेट

पूज्य भाईसाहेब !

आपने लगभग सौ से ऊपर महान् संस्कृत ग्रन्थो की सुललित एव सरल टीकाएं बनाई है। भक्तामरशतद्वयी आदि कई सस्कृत ग्रन्थो की स्वतत्र रचनाए भी की है। इस धार्मिक महान् उपकार से समाज आपका अतीव कृतज्ञ है।

आपके शास्त्रमर्मस्पर्शी अगाध पांडित्य तथा अनुभव एव दूरदर्शितापूर्ण विचारो का विद्वत्समाज पर असाधारण प्रभाव है।

आगम पर दृढता और प्रतिमारूप नैष्ठिक व्रताचरणयुक्त आपके आदर्श जीवन का पूज्य त्यागीगणो म भी पूर्ण आदर है।

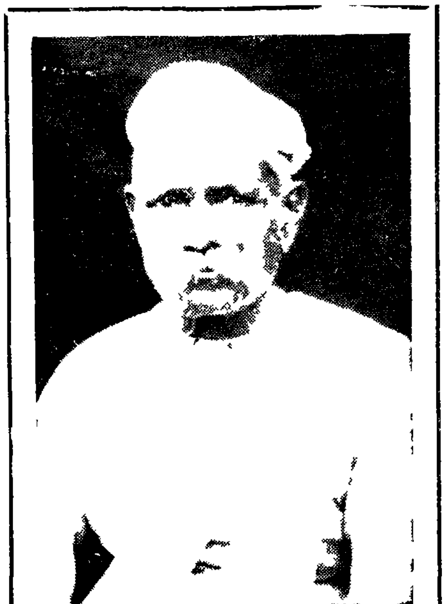
शास्त्रीय सिद्धान्तो की अनेक गुत्थियो एव धार्मिक कार्यो के समझने तथा सपादन मे आपसे मुझे सदैव सत्परामर्ष एव आदेश-रूप मे प्रेरणात्मक प्रोत्साहन मिलता रहता है।

इन सब बातो के अतिरिक्त आप मेरे श्रद्धास्पद पूज्य सहोदर बडे भ्राता है। धर्मरक्षा की दृष्टि मे यह पुस्तिका भी आपके ही आदेश से लिखी गई है। अत. मै इसे आपके करकमलो मे सविनय भेट करता हूँ। इसे स्वीकार कर आप मुझे शुभाशीर्वाद देते रहे जिससे मै यथाशक्ति धर्म एव समाज-सेवा म तत्पर बना रहू बस यही मेरा निवेदन है।

मोरेना (मध्यप्रदेश)
माघ वद्य पचमी
श्री वीरनि स० २०८३

आपका आज्ञाकारी
मक्खनलाल शास्त्री

अनेक महान् गभीर सस्कृत शास्त्रो के
टीकाकार एव कई स्वतन्त्र सस्कृत ग्रन्थो
के रचयिता समाज-प्रख्यात
उद्भट महाविद्वान्



धर्मरत्न सरस्वती–दिवाकर विद्वरेण्य
श्रद्धेय श्रीमान् प० लालाराम जी शास्त्री
महोदय

ट्रैक्ट लेखक की ओर से

पाठकों से पहला निवेदन

दिगम्बर जैन समाज के समस्त परमपूज्य आचार्यों, परमपूज्य मुनिराजो, त्यागियो, विद्वानो, श्रीमानो स्वाध्यायशीलो एव पत्र-संपादको से मेरा यह पहला निवेदन है कि वे इस पुस्तिका (ट्रैक्ट) को ध्यान से पढने की कृपा करे। श्री कानजी स्वामी के जो भी मन्तव्य है मैने उन्हे खूब समझ लिया है। उनके जो भाव हैं उन्हे ही उनके शब्दो मे लिखा है और उनके मन्तव्यो के खडन म जो आचार्यों के वचन है उन्हे लिखा है। यह ट्रैक्ट श्री कानजी स्वामी एव उनके शिष्यो पर आक्षेप-दृष्टि से नहीं लिखा गया है। किंतु मै चाहता हूँ कि शास्त्रो के स्वरूप को वे वास्तव रूप में समझे और अपने मन्तव्य और प्रचार की दिशा बदल देवे जिससे उनका व समाज का सच्चा हित हो सके और दिगम्बर जैनधर्म के सिद्धान्तो का यथार्थ स्वरूप बना रहे। इसी सच्चे सुधार की सद्भावना से मैंने इस ट्रैक्ट के लिखने मे श्रम किया है। इसलिये आप सभी महानुभाव इस ट्रैक्ट की आदि से अत तक पूरा पढे। स्वामीजी के उद्धरणो को बहुत ध्यान से पढे, उनके पढ़न से उन्हे उनके मन्तव्यो का ठीक-ठीक दिग्दर्शन और परिज्ञान होगा। फिर शास्त्रीय प्रमाणो को खूब मननपूवक पढे।

पूरा ट्रैक्ट पढने के पीछे ही अपनी मूल्यवान् सम्मति प्रगट करे। मैंने सभी बाते उचित ही लिखी है या कोई बात अनुचित भी लिखी है उससे मुझे भी सूचित कर देंगे तो मै उनका आभारी बनूगा।

पत्र-सपादक महोदय इसकी समालोचना इसे पूरा पढ़कर तो करेंगे ही किंतु वे किसी पक्ष-मोहवश नहीं अपितु यथार्थ रूप मे ही करेंगे ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

शास्त्र-विपरीत मान्यताएं और स्वामीजी से निवेदन

श्री कानजी स्वामी निमित्त को उपादान के कार्यों में कारण एवं सहायता देनेवाला नहीं मानते हैं, केवल इसी विषय में उनका शास्त्रों से विरुद्ध मत है, ऐसा प्राय. समाज एवं कतिपय विद्वान भी समझते है। परंतु जिन्होंने उनके प्रवचनों का पूर्ण रूप से अध्ययन किया है वे यह समझ चुके है कि स्वामीजी के सभी मन्तव्य दिगम्बर जैनशास्त्रों से सर्वथा (बिलकुल) विपरीत है। यह बात मेरी इस पुस्तिका (ट्रैक्ट) में पाठक भली भांति समझ लेंगे।

श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों में सांख्यमत की छाया ही केवल नहीं है किंतु पूर्ण रूप से पुष्टि की गई है। सांख्यमत छह दर्शनों में एक एकान्त मिथ्यात्व का दर्शन है। इसी प्रकार उनके प्रवचनों में वेदांतवाद जैसा प्रत्यक्ष पदार्थों का लोपक मन्तव्य भी स्पष्ट रूप से पाया जाता है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म के सिवा मनुष्य, पशु, पक्षी, महल, मकान, कपड़ा, बरतन आदि जगत् में किसी वस्तु की सत्ता (उपलब्धि) नहीं मानता है, सबों को भ्रम या माया बताता है। इसी प्रकार कानजी स्वामी निमित्त से होनेवाले प्रत्यक्ष कार्य, इंद्रियों से होनेवाला मतिश्रुतज्ञान, कर्मोदय का फल आदि सभी बातों का लोप कर रहे है। शास्त्रों में जिन बातों का विधान है और प्रत्यक्ष भी अनेक बाते हो रही है, उन सबों का वे निषेध करते है, उनके प्रवचनों में शास्त्रों का कोई एक भी आधार नहीं है। सब बाते उनकी समझ के अनुसार कही जाती है। इसलिये उनके सभी स्वतन्त्र मन्तव्य है और वे

शास्त्रों से सर्वथा विपरीत है। यह बात इस ट्रैक्ट से निश्चित रूप से पाठकों को विदित हो जायगी।

इन मन्तव्यों का परिणाम

इन विपरीत मन्तव्यों के प्रचार से दिगम्बर जैनधर्म का बहुत बड़ा ह्रास (क्षति) होगा, और माननेवालों का पूरा अहित होगा। धार्मिक तत्व एवं सिद्धांतों का विपरीत ग्रहण होगा और मोक्षमार्ग-साधक धार्मिक क्रिया-कांड छूट जायगा। अणुव्रतों का पालन, देवदर्शन, देवपूजा, त्याग, मर्यादा, अभक्ष्य-भक्षण आदि सभी बातों की आवश्यकता फिर प्रतीत नहीं होगी। शास्त्र और उनके रचयिता आचार्यों के प्रति श्रद्धा-बुद्धि भी हट जायगी। इन सब बातों पर समाज को दूरदर्शिता से विचार करना चाहिये।

श्री कानजी स्वामी से निवेदन

श्री कानजी स्वामी से मेरा इतना ही निवेदन है कि यदि उन्होंने इस ट्रैक्ट द्वारा आचार्यों के शास्त्रीय विधानों एवं वस्तु-स्वरूप को समझकर सरल भाव से अपना विपरीत प्रचार छोड़ दिया, और शास्त्रों के अनुसार दिगम्बर जैन-धर्म को स्वीकार कर उसी रूप से प्रचार एवं प्रवृत्ति की तो मैं उनकी हार्दिक प्रशंसा करूंगा। सभी विद्वानों और सभी त्यागियों को भी आनंद होगा। तब उनके प्रचार से धर्म की प्रभावना तथा समाज का हित होगा। आशा है स्वामीजी मेरे शब्दों पर ध्यान देकर अपने और दूसरों के कल्याण के लिये अपना दृष्टिकोण शास्त्रों के अनुकूल बना लेंगे और समाज की जानकारी के लिये अपना स्पष्टीकरण कर सबों को सन्तुष्ट करेंगे।

शब्द-प्रयोग भी आगमानुसार नियत हैं

दिगम्बर जैनशास्त्रों में मुनिपद और प्रतिमाधारी श्रावकों के पद के लिये यथोचित आदर-विनय के सूचक शब्द नियत है। उन शब्दो से उस पद का ज्ञान और यथोचित विनय प्रगट हो जाता है। यथा—

नमोस्तु गुरवेकुर्याद्वंदना ब्रह्मचारिणे ।
इच्छाकारं तदन्येषु आर्यिकाक्षुल्लिकादिषु ॥

—षट्प्राभृत

मे गुरु 'पद' मुनिगण लिये जाते है। उनके लिये "नमोस्तु" शब्द नियत है। 'ब्रह्मचारी' पद से सातवीं प्रतिमावाला श्रावक लिया जाता है, उसके लिये 'वंदना' शब्द नियत है। और क्षुल्लक, क्षुल्लिका, आर्यिका इन पद वालो के लिये इच्छाकार या नमस्कार शब्द नियत है। इन्हीं शब्दो से उन पद वालो का विनय-आदर किया जाता है। इसी प्रकार परमपूज्य सद्गुरु स्वामी ये शब्द भी मुनिगण के लिये नियत है। दिगम्बर जैन-धर्मावलम्बी प्रत्येक व्यक्ति मुनि के सिवा किसी ब्रह्मचारी तो क्या दशमी प्रतिमाधारी के लिये भी परमपूज्य सद्गुरु स्वामी इन शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता है। ये शब्द मुनिपद के लिये नियत है।

श्री कानजी भाई पहली प्रतिमा के धारी भी नहीं हैं, वे अपने लिये अव्रती श्रावक कहते है। ऐसी दशा में उनके आदर-विनय के लिये उनके शिष्य एवं अनुयायी सभी लोग उन्हे "परमपूज्य सद्‌गुरु स्वामी" इन शब्दों से बोलते है, लिखते है। देखिये—

" परमपूज्य सद्‌गुरु देव श्री कानजी स्वामी "

आ० ध० वर्ष १, अंक १।२।३, पृष्ठ ४३, १००

यह शब्द-प्रयोग दिगम्बर जैनशास्त्रो के अनुसार उपयुक्त नहीं है। यदि शब्द-प्रयोग की कुछ भी मर्यादा नहीं मानी जायगी तो कुदेवादि की पूजा करनेवाले और सुदेवादि की पूजा करनेवाले दोनो ही मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि कहे जा सकते है। इसलिये पदस्थानुसार शब्द-प्रयोग होना चाहिये। इसीलिये श्री कानजी भाई को इस ट्रैक्ट म मैंने 'स्वामी' शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं समझा था परन्तु वे या उनके अनुयायी शिष्य बुरा मानेंगे यह समझकर और दूसरी बात जैसे आर्यसमाजियो मे उनके सन्यासियो एवं प्रचारको को स्वामी कहा जाता है तथा मद्रासवालो को स्वामी कहा जाता है, यह केवल पारिभाषिक शब्द-प्रणाली है, यह समझकर ही मैंने इस ट्रैक्ट मे उन्हें कानजी स्वामी इस शब्द से लिखा है। दिगम्बर जैन-धर्म की नियत प्रक्रिया के अनुसार मै उन्हे स्वामी इस शब्द से प्रयोग करने एव मानने मे यथोचित आदर-विनय एवं शास्त्र-

पद्धति की अवहेलना और अविवेक समझता हूं । इस स्पष्टीकरण मे उनका अनादर मैं नहीं समझता हूं, और इसे व्यक्तिगत आक्षेप भी नहीं मानता हू । जिस रूप में वे हैं उतना मैं उनका आदर करता हू । मै तो हृदय से चाहता हू कि वे एक सच्चे दिगम्बर जैन बनकर शास्त्रानुसार प्रवचन करें और उसी आगम की मान्यतावाले दिगम्बर जैन बनावें । तब वे एक विशिष्ट गणनीय सच्चे आदरणीय सत्पुरुष बन जायेंगे ।

मोरेना (मध्यप्रदेश) मक्खनलाल शास्त्री
दि० १० १-५७

विषय-सूची

श्रीकानजी-मतखंडन

(श्री कानजी स्वामी के शास्त्रविपरीत मन्तव्यो का
सप्रमाण खडन)

वीरं नमामि सर्वज्ञं वीतरागं जगद्धितम्
धर्मशासन तीर्थेश निरीह परमेश्वरम्
द्वादशाङ्गं श्रुतज्ञानं प्रणमामि च श्रद्धया
स्याद्वादभानुना येन सर्वं तत्वं प्रकाशितम्
सर्वसाधून्नमस्कृत्य मूलोत्तर गुणान्वितान्
पुस्तिकां धर्मरक्षार्थं सप्रमाणं लिखाम्यहम

दिगम्बर जैनधर्म का अपरिमित माहात्म्य

दिगम्बर जैनधर्म एक ऐसा असाधारण एवं अनन्य धर्म है जो कि प्राणीमात्र का कल्याण करनेवाला है। विशिष्ट उपादान शक्तिशाली पात्रात्माओ को समर्थ सुनिमित्त की सहायता से वह मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है। सर्वज्ञ जिनेद्र देव तथा तदनुगामी अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी एवं ऋद्धिधारक गणधरादि वीतराग महर्षियों द्वारा प्रतिपादित होने से वह वस्तुतत्व का यथार्थ प्रकाशक है। पूर्वापर अविरोधी है। किसी भी हेतुवाद, युक्तिवाद एव तर्कणाओं द्वारा वह खंडित नहीं हो सकता है। अकाट्य है। प्रत्यक्षपरोक्ष प्रमाणों से अबाधित है, तथा आगम, सद्युक्ति एवं स्वानुभव द्वारा विचारशील विद्वानो के बुद्धिगम्य भी है।

यही कारण है कि—"जैनमंदिर मे भूलकर भी नहीं जाना चाहिये, यदि कोई वहां चला जाय तो उसे सवस्त्र स्नान करना चाहिये"—ऐसा कहनेवाले परीक्षा प्रधानी कट्टर वैष्णव महाविद्वान् विद्यानदि स्वामी जो स्वमत पक्षमोह के अधकार मे विपरीत मार्ग मे भटक रहे थे वे भी दिगम्बर जैनधर्म के प्रभाव से प्रभावित होकर दिगम्बर जैन बन गये। वे ही महा उद्भट विद्वान् श्रीमदाचार्यवर्य विद्यानदि स्वामी वीतराग तपस्वी बने। वे आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री, श्लोक-वार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रन्थो के रचयिता हुए तथा दिगम्बर जैनधर्म के एक असाधारण प्रवर्तक बने और भी हजारो राजा, महाराजा एव विद्वान दिगम्बर जैन वीतराग आचार्यो के सदुपदेशो से दिगम्बर जैन बनकर त्यागी बन गये। दिगम्बर जैनधर्म का महात्म्य अपरिमित एव अवर्णनीय है।

श्री कानजी स्वामी के विषय मे मेरा अतरग

श्री कानजी स्वामी महोदय के विषय मे मेरा अतरंग क्या है, उसे सबसे पहले प्रगट कर देना मै आवश्यक समझता हू जिससे वे तथा उनके अनुयायी शिष्यगण मेरे हृदय को समझकर मुझपर रोष नही करे। इस युग के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक आजतक असख्य वर्षों से अविच्छिन्न रूप मे चले आये हुए दिगम्बर जैनधर्म का मूलोच्छेद एव उसके पालनेवाले समाज का अकल्याण नही हो, यही मेरी हार्दिक भावना है। उसी भावना और धार्मिक पुरुषो की विशेष चाहना और प्रेरणा से मै यह छोटी-सी पुस्तिका (ट्रैक्ट) लिख रहा हूँ।

श्री कानजी महोदय दिगम्बर जैन बन गये हैं। पहले वे स्थानकवासी (ढूंढ़क सम्प्रदाय माननेवाले) साधु थे। अब दिगम्बर जैन पाक्षिक (अव्रती) श्रावक अपने लिये बताते हैं। मैं कभी सोनगढ़ नहीं गया हूं और मैंने उन्हें कभी देखा भी नहीं है। परंतु वहां का परिचय मैंने सोनगढ गये हुए अनेक लोगों से सुना है। उससे मैं यह समझ चुका हूँ कि वे एक प्रभावशाली वक्ता हैं, कुशल पुरुष हैं। वे गुजराती और हिंदी भाषा के विद्वान् हैं। उन्होंने अपने प्रभावपूर्ण भाषणों से अनेक स्थानकवासी एवं श्वेताम्बरों को दिगम्बर जैन बनाया है। यह महत्त्वभरी बात प्रत्येक धर्मात्मा के हृदय में धर्माह्लाद प्रगट करनेवाली है, तथा श्री कानजी स्वामी के प्रति हार्दिक धर्मवात्सल्य (धर्मप्रेम) प्रगट करनेवाली है। "स्वपक्ष दर्शनात् कस्य न प्रीति रुपजायते" अर्थात् अपने धर्मपक्ष की वृद्धि देखकर किसे आनंद नहीं होगा? सब को होगा। विशेषकर इस धर्मकर्महीन निकृष्ट युग में जहां धार्मिक भावना ही हटती जारही है, वहां दिगम्बर जैन बननेवाले और दूसरों को भी बनानेवाले कहां मिलते हैं? इसलिये मेरे हृदय में यह अतीव आनंद की बात है। परंतु मेरा समस्त आनंद और धार्मिक उल्लास प्रसन्नता के स्थान में खेद में परिणत हो जाता है जब कि मैं दिगम्बर जैनधर्म के प्रवर्तक समस्त पूर्वाचार्यों के विरुद्ध एक नये मत का आविष्कार होता हुआ देखता हूँ।

यदि श्री कानजी भाई दिगम्बर जैनशास्त्रों के अनुसार विवेचन करते तो मैं यह बात अंतरंग से कहता हूं कि मैं उनके पास सोनगढ़ अवश्य पहुंचता और उनसे मिलता, उन्हें अपने गले लगाता, विद्वानों से बढ़कर उनका आदर करता,

सबसे बढ़कर समाज मे उनका सम्मान कराने मे आनंद मानता। अपने धर्मपक्षवालो का विरोध कौन समझदार करेगा? जो करता है उसे मैं धार्मिक नहीं समझता हूँ। परंतु जहां दिगम्बर जैन बनकर पूर्वाचार्यो के मूल सिद्धांत बदले जारहे है वहां 'दिगम्बर जैन' इस नाममात्र से समाज का उत्थान एवं कल्याण कभी नहीं हो सकता है। इसे समय-चक्र एव दुर्दैव ही समझना चाहिये। यह तो "चौबेजी छब्बे बनने चले रहगये दुबे" इस कहावत को चरितार्थ करनेवाली बात है।

मैने 'जैनदर्शन' पत्र के संपादक के नाते कर्तव्यतावश उनके मन्तव्यो के खडन मे अनेक लेख लिखे है परंतु श्री कानजी महोदय पर व्यक्तिगत आक्षेप कभी नहीं किया है। केवल उनके मन्तव्यो के विरोध मे ही लेख लिखे है।

श्री कानजी महोदय का अध्ययन

श्री कानजी महोदय ने समवसार ग्रन्थ का स्वाध्याय और अभ्यास किया है। अपनी समझ के आधार पर वे निश्चयनय के विवेचन को यथार्थ और व्यवहारनय के विवेचन को सर्वथा अयथार्थ मान बैठे है। उसी अपनी समझ और मान्यता के अनुसार वे निश्चयनय को सत्य और व्यवहारनय को असत्य मानकर पदार्थो का आगमविरुद्ध विवेचन करते हैं। उनके विपरीत विवेचन से यह प्रतीत होता है कि वे समवसार की मूल प्राकृत भाषा तथा उसकी आचार्य-वर्य अमृतचद्र सूरि और जिनसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति तथा आत्मख्याति इन संस्कृत टीकाओ को समझ नहीं सके है। हिंदी के अर्थ को देखकर अपनी समझ के अनुकूल आशय

को खीचने की उन्होंने चेष्टा की है। दूसरी बात यह भी प्रतीत होती है कि समवसार के अतिरिक्त दूसरे सिद्धांतों एवं दार्शनिक ग्रन्थो का उन्होने अध्ययन नहीं किया है, इसीलिये वे वस्तुस्वरूप को एकान्त रूप मे समझे हुए है। यदि कहा जाय कि वे समवसार और दूसरे ग्रन्थो के आशय को भली भाति जानते हैं तो फिर विपरीत साहित्य का प्रचार वे क्यों कर रहे हैं ? उनका साहित्य-प्रचार समस्त दिगम्बर जैन शास्त्रो के विपरीत है इस बात को मै इसी ट्रैक्ट में स्पष्ट रूप से लिखूंगा।

जितनी पुस्तकें उन्होने लिखी हैं तथा "आत्मधर्म" पत्र मे जितना भी उनका साहित्य निकल रहा है, उससे उनका मन्तव्य सबको स्पष्ट हो चुका है।

समझने और समझाने की इच्छा क्यो नही ?

बम्बई कलकत्ता, देहली, सहारनपुर आदि नगरो मे कहीं पर १०-१५ कहीं पर २०-२५ कहीं पर २५-५० व्यक्ति सोनगढ सिद्धान्त के अनुयायी पाये जाते है। उन नगरो मे मेरे शास्त्र-प्रवचन और भाषण हुए है। उन भाइयों के साथ शका-समाधान भी हुए है। चर्चा के पश्चात् उन भाइयो मे जो अगुआ है उन्होंने मुझसे कहा था कि आप सोनगढ चले, वहां श्री कानजी स्वामी से विचार करें। उत्तर मे मैंने उन्हे यह कहा कि "मै सोनगढ़ चलने तथा उनसे विचार करने के लिये सहर्ष तैयार हू। मेरे साथ उक्त नगरो के अनेक महानुभाव भी चलने के लिये तैयार है परन्तु आप लोग कानजी स्वामी से यह पूछें कि वे अपने मन्तव्यो के विषय में शास्त्राधार से विचार करना चाहते हैं क्या ? यदि वे स्वीकृति देते हों तो आप लोग मुझे लिखें, मै अवश्य चलूंगा।" परंतु आज तक उनमें से किसी भाई ने कोई सूचना मेरे पास नहीं भेजी।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि श्री कानजी भाई केवल अपने निजी मन्तव्यो का प्रचार करना चाहते है, वे शास्त्राधार से विचार करने के लिये तैयार नहीं है। इसका प्रमाण भी यह है कि गत वर्ष मे विद्वत्परिषद को अपना अधिवेशन करने के लिये सोनगढ से निमन्त्रण मिला, विद्वत्परिषद् के कार्यकर्ताओ ने पूछा कि हम लोग श्री कानजी भाई के साथ विचार भी करना चाहते है, उसके लिये समय आदि की स्वीकृति भेजे। परंतु सोनगढ से यह उत्तर मिला कि श्री कानजी स्वामी का दृष्टिकोण समझने के लिये ही आपको बुलाया जाता है, आप लोगो के विचार सुनने के लिये यहां कोई समय नहीं है" इस उत्तर को पढकर विद्वत्परिषद् की बैठक सोनगढ मे नहीं की गई। इसी प्रकार का आशय समाचार-पत्रो मे आचुका है। उत्तर-प्रत्युत्तर के शब्द कुछ भी हो। अभी जब श्री कानजी स्वामी बम्बई, कलकत्ता, शिखरजी आदि की यात्रा को निकले है तब भी भा० दि० जैन सिद्धांतसंरक्षिणी सभा के मत्री महोदयो ने तथा ईसरी के विद्वान ब्र० सुरेन्द्रनाथ जी और सिद्धांतशास्त्र के मर्मज्ञ प० रतनचद जी वकील सहारनपुर वालो ने उन्हे पत्र देकर विद्वानो के साथ शान्तिपूर्ण विचार करने की स्वीकृति उनसे मागी है परतु उनकी ओर से स्वीकृति नही मिली है।

इस विषय मे श्री कानजी महोदय से मेरा यह अनुरोध है कि 'आप विद्वानो के साथ बैठकर शान्ति से विचार क्यो नहीं करते है? जब कि समाज के अनुभवी प्रौढ़ विद्वान और परम पूज्य आचार्य तथा मुनिराज एवं अन्य त्यागी गण आपके शास्त्र-विरुद्ध मन्तव्यो का विरोध कर रहे है तब आपका यह प्रथम कर्तव्य है कि या तो आप अपने मन्तव्यों को सप्रमाण सिद्ध कर उन सबको समझा दे या उनसे समझ ले। सरलतापूर्वक

जिज्ञासा-बुद्धि से वस्तुतत्व को समझना-समझाना प्रत्येक बुद्धिमान का कर्तव्य है। जब आपने दिगम्बर जैनधर्म धारण किया है और दूसरो को भी दिगम्बर जैन बना रहे है तब इसका मूल प्रयाजन ता अपना और पर का वास्तविक कल्याण है और किसी ससारी प्रयोजन या ख्यातिलाभ की चाहना से तो धर्म धारण नही किया है। तब आपको दिगम्बर जैनसिद्धान्त का अहिंसा-सिद्धांत, व्यवहार-निश्चयअध्यात्मवाद और उपादान-निमित्त आदि का वस्तुतत्व, विशिष्ट विद्वानों से एवं विशिष्ट शास्त्रमर्मज्ञ आचार्य मुनिराजो से शास्त्र-प्रमाण और युक्तिपूर्वक भले प्रकार समझ लेना आवश्यक है। आप न तो अपनी बात विद्वानो को समझाना चाहते है और न उनसे समझना चाहते है; केवल आंख मींचकर अपने मन्तव्यों के प्रचार मे लगे हुए हैं। और अनादि परपरा से चले आये परमार्थ धर्मसाधक धार्मिक क्रियाकाण्ड को अधर्म और संसार-कारण बताते है। ऐसी महा असंगत बात तो त्यागी समाज, विद्वत्समाज और धार्मिक समाज के लिये असह्य हो गई है।

श्री कानजी स्वामी के मूल मन्तव्य

श्री कानजी स्वामी का जितना भी प्रवचन होता है वह सब निश्चय एकान्त या निश्चयाभास रूप है। इसलिये वह दिगम्बर जैनशास्त्रो से सर्वथा विपरीत है। उनके मूल मन्तव्य इस प्रकार है:—

१—मै जीवों की रक्षा करूं, उन्हे मरने से बचाऊ, ऐसा विकल्प (विचार) करना हिंसा है। जीव-दया हिंसा है। आत्मा से शरीर सदा से जुदा है इसलिये जड़ शरीर से आत्मा को पृथक् करने मे हिंसा नहीं है।

२—शरीर जड़ है। इसलिये जड़ शरीर की क्रिया से धर्म मानना मिथ्यात्व है। शरीर-क्रिया से आत्मा का कोई संबंध नहीं है।

३—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की श्रद्धा-पूजा के समान सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की श्रद्धा-पूजा मे भी मिथ्यात्व है। देव शास्त्र, गुरु की पूजा शुभ राग होने से वह पुण्य है और पुण्य अथवा शुभ राग संसार का कारण है।

४—आत्मा के शुभ अशुभ भाव कर्मों के उदय से नहीं होते है, इसलिये कर्मोदय के कारण चारो गतियो मे जीव नहीं जाता है, किन्तु स्वयं अपनी योग्यता से आत्मा संसार मे भ्रमण करता है।

५—उपादान मे निमित्त कुछ नहीं कर सकता है।

६—व्यवहार सर्वथा मिथ्या है।

इन छहो मन्तव्यो पर इस ट्रैक्ट मे भिन्न-भिन्न रूप से विचार किया गया है। प्रत्येक विषय पर श्री कानजी स्वामी क्या कहते है सो उनके उद्धरण देकर पीछे उनका शास्त्रो के प्रमाणो से खंडन इस ट्रैक्ट मे किया गया है।

पाठक गण भिन्न-भिन्न कारणो का खंडन पढ़ने के पहले कानजी स्वामी के मन्तव्यो को अवश्य ध्यान से पढले फिर उनका खंडन पढे।

श्री कानजी स्वामी का हिंसा के विषय मे विपरीत मन्तव्य

"जीवो के मारने मे हिंसा नही है, जीवो के बचाने मे हिंसा है"

(उनके मन्तव्य को ध्यान से पढ़िये)

"दूसरे को न तो कोई मार सकता है और न जिला सकता है, केवल वैसे भाव करे। दूसरे को मारने के भाव अशुभ पाप-भाव हैं और 'दूसरे को जिलाने के भाव शुभ भाव पुण्य हैं, किन्तु वह वास्तविक अहिंसा नही है क्योकि स्वय दूसरे को न तो मार सकता है और न जिला सकता है। फिर यो मान लिया कि मैं दूसरो को मार या जिला सकता हूँ-इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को पर का कर्त्ता माना, बस इसी में स्वभाव की हिंसा है। लोग पर-दया पालने को अहिंसा कहते हैं, किन्तु सचमुच में वह अहिंसा ही नही है।"

"लोग जड शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं, किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नही है क्योकि शरीर और आत्मा तो सदा से पृथक् थे ही, उन्हे पृथक् करने की बात केवल औपचारिक है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक शरीर से अभेद है, वह पुण्य-पाप की वृत्ति से रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूप को न मानकर पुण्य-पाप को अपना मान लिया।" आ० ध० पृष्ठ ४८, अक ४, वर्ष १

"जीव को दानादिक शुभ भाव होते हैं तो उन भावो के कारण दूसरो का हित हो जाता है और हिंसा आदिक अशुभ भावो के कारण दूसरे का अहित हो जाता है, सो बात नही है।" पृष्ठ १०, अक १, वर्ष १

"परवस्तु को हेय उपादेय माने वह अज्ञानी मिथ्यदृष्टि है।"
पृष्ठ १६, अंक १, वर्ष १

"जो यह मानता है कि मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है ज्ञानी से विपरीत है"

पृष्ठ १६८, अक १२, वर्ष १

"यदि परजीव-दयापालन के शुभ राग में धर्म होता सिद्धदशा में भी परजीव की दया का राग होना चाहिए परन्तु शुभ राग धर्म नही है, किन्तु अधर्म है, हिंसा है।"

"मैं परजीव की रक्षा करूं ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीव हिंसा ही है।" आ० ध० पृष्ठ १२, अक १, वर्ष ४

"जीव और शरीर भिन्न-भिन्न ही हैं और जड को मारने में हिंसा नही होती।" पृष्ठ १६, अक २, वर्ष ४

"अज्ञानी यह मानता है कि शत्रु के साथ होनेवाली लडाई में मैं अपने पुरुषार्थ से जीतता हूँ अथवा अल्प पुरुषार्थ के कारण हारता हूँ और लडाई में शरीर की क्रिया मेरी शक्ति से होती है।"

पृष्ठ २५, अक २, वर्ष ४

"अज्ञानी यह मानता है कि बहुत-से जीव मरे जा रहे हो तब उस समय उन्हे बचाना अपना कर्तव्य है और उन्हे बचाने का शुभ भाव चैतन्य का कर्तव्य है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने को पर पदार्थ का और विकार का कर्ता मानता है।" पृष्ठ ३३, अक ३, वर्ष ४

"बाह्य रूप में परप्राणी मरता है या दुखी होता है उसीमें हिंसा नही है, परन्तु मैं उस प्राणी को दुखी या सुखी कर सकता हूँ ऐसी मान्यता ही अपने ज्ञानस्वरूप की हिंसा है। उसमें मिथ्यात्वभाव का अनत पाप है।" आ० ध० पृष्ठ ६, अक १, वर्ष १

'लौकिक मान्यता ऐसी है कि परजीव की हिंसा न करनी, ऐसा उपदेश भगवान् ने दिया है, परन्तु यह मान्यता भूलभरी है। कोई जाव किसी जीव की हिंसा नही कर सकता है।"

आ० ध० पृष्ठ १३, अक १, वर्ष १

श्री कानजी स्वामी के हिंसा-मन्तव्य का खंडन

हिंसा का स्वरूप शास्त्राधार से इस प्रकार है —

यह बात जगत् मे प्रसिद्ध है कि जीव की हिंसा करना सबसे बडा पाप है। यह भी जगत प्रसिद्ध बात है कि दिगम्बर जैनधर्म मे अहिंसा अथवा जीव-रक्षा की प्रधानता है। दिगम्बर जैनधर्म के समस्त शास्त्र अणुव्रत, महाव्रत, रात्रि-भोजनत्याग, जल छान कर पीना, देखकर चलना, झाडना आदि सभी क्रियाओ मे जीव-रक्षा का ही उद्देश्य बताते हैं। भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक महा विद्वान् एव भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नेता स्व० बाल गंगाधर तिलक ने बडे गर्व के साथ यह उद्गार प्रगट किये है कि "जैन धर्म की अहिंसा की छाप ब्राह्मणधर्म पर बडे जोरो से लगी है।" श्रावकधर्म मे लेकर मुनिधर्म तक सभी क्रियाओं मे, आहार-विहार आदि मे-उठने, बैठने, लेटने, व्यापार करने, मल मूत्र-निवृत्ति भोजन करने, वस्तुओं को उठाने-धरने आदि मे जीव-रक्षा का ही विधान है। मुनिधर्म की प्रत्येक क्रिया मे स्थावर जीव तक की पूर्ण रक्षा का विधान है। इसीलिये अत्यन्त कोमल मयूरपिच्छि मुनिधर्म मे अनिवार्य है। इसका, सारभूत अर्थ यही है कि जैनधर्म अहिंसामय धर्म ही है। इतना सब कुछ स्पष्टीकरण होने पर भी कानजी महाशय जीवो के मारने मे हिंसा ही नहीं मानते है। उनकी हिंसा-अहिंसा की व्याख्या इतनी अनोखी है कि वह किसी की समझ मे स्थान नहीं पासकती है। उस व्याख्या को पढकर कोई भी अजैन जैनधर्म की खिल्ली उडाये बिना नहीं रह सकता है। हिंसा की अद्भुत एव हिंसा के स्वरूप को नहीं छूनेवाली गर्हित और निंद्य व्याख्या करनेवाला कैसा जैन है, यह बात विचारणीय बन जाती है।

श्री कानजी स्वामी कहते है किः—

"लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते है, किंतु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से पृथक् थे ही । मै परजीव की रक्षा करूँ ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीव-हिंसा ही है ।"

परजीव की रक्षा करने रूप दया के भाव मे हिंसा बताना यह कितनी विचित्र और विपरीत बात है । फिर तो दिगम्बर जैनधर्म में जीव-रक्षा और दयाभाव का कोई भी मूल्य नहीं रहेगा और न कोई उसे पालने की आवश्यकता समझेगा शास्त्रो मे तो यह बताया गया है और सब जगत् प्रत्यक्ष देख रहा है कि अनादि काल से ही शरीर और आत्मा नीर-क्षीर के समान दोनो एक साथ बंधे हुए हैं और जब तक मोक्ष नहीं होती तब तक शरीर और आत्मा का संबध मिला ही रहेगा, परन्तु कानजी स्वामी कहते है कि शरीर और जीव तो सदा से ही पृथक् है । यदि पृथक् है तो फिर सिद्ध भगवान् और ससारी जीवो मे भेद ही क्या रह जाता है ? सिद्धो का आत्मा भी शरीर से पृथक् है और अनादि काल से प्रत्येक संसारी आत्मा भी शरीर से पृथक् है ! क्या दिगम्बर जैनधर्म के शास्त्रो का कथन ऐसा ही है ? नहीं है । शास्त्रों मे तो यह बताया गया है किः—

सिद्धाणंतिमभागो अभव्व सिद्धादणंत गुणमेव
समयपबद्ध बधादि जोगवसात्येदु विसरित्थ ॥ ४ ॥

गोम्मटसार पृ० ३

अर्थ--जितने अनंतानंत सिद्ध हुए है उनके अनंत वे भाग और अनंत प्रमाण जो अभव्य जीव है उनसे अनत गुणे परमाणुओं का समयप्रबद्ध (बध) सकषाय आत्मा योग के द्वारा कर लेता है।

तत्वार्थ सूत्र जो दिगम्बर जैनधर्म का सबसे महान् गंभीर सिद्धान्तशास्त्र है उसमें कहा गया है "अनादि सबंधे च" जीव का तैजस कार्य या शरीर के साथ बराबर प्रतिक्षण अनादि से सबध चला आरहा है। और वह सभी संसारियो के है। ऐसी अवस्था मे कानजी भाई का यह कथन कि "शरीर और आत्मा सदा से ही पृथक है" शास्त्रों से सर्वथा विपरीत एवं प्रत्यक्ष बाधित है। इस बात को अधिक लिखना व्यर्थ है।

" जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही है और जड को मारने से हिंसा नहीं होती " यह कानजी भाई का कहना है। कहिये कैसी विचित्र बात है! एक जैनसंप्रदाय भेद में यह बताया गया है कि किसी घर मे जोर से आग लग गई हो और घर मे बधे हुए अनेक पशु अग्नि में जलकर मर रहे हों, तो उन्हें बचाना पाप है। यही बात कानजी स्वामी कहते हैं कि जड़ शरीर के मारने मे कोई हिंसा नहीं होती है। परंतु दिगम्बर जैनधर्म ऐसा नहीं मानता है, उसमे शरीर से आत्मा को पृथक् कर देना यही हिंसा है। इसीका नाम जीव-बध है। उसे महान् पाप एवं सबसे बडा पाप माना गया है और जीवो की रक्षा एव दया को सबसे बडा धर्म माना गया है।

श्री कानजी स्वामी कहते है कि—

"अज्ञानी यह मानता है कि बहुत-से जीव मर रहे है तब उस समय उन्हे बचाना अपना कर्तव्य है और उन्हे

बचाने का शुभ भाव चैतन्य का कर्तव्य है। इस प्रकार मिथ्या-दृष्टि जीव अपने को पर पदार्थ का और विकार का कर्ता मानता है।"

श्री कानजी स्वामी के ऊपर के कथन को ध्यान मे पढ लीजिये, उनकी बात से एक जैन सम्प्रदाय भेद की पूर्ण रूप से पुष्टि होती है कि अग्नि से पशु मरते हो तो उन्हे बचाना पाप है। अब समझ लेना चाहिये कि यह उसी सम्प्रदाय का प्रचार है या दिगम्बर जैनधर्म का प्रचार है। मरते हुए जीवो के बचाने को अपना कर्तव्य समझनेवाला उनकी दृष्टि से मिथ्या-दृष्टि माना जाता है। इस दिगम्बर जैनधर्म की समझदारी पर महान् खेद होता है। इस प्रकार के साहित्य-प्रचार से धर्म का प्रचार होता है या शास्त्रो से सर्वथा विपरीत अधर्म का प्रचार होता है? और ऐसी अनर्थकरी बात से समाज एवं जगत् का हित होगा या सर्वनाश? सो पाठक सोच ले।

एक बात यहां स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि कानजी भाई आत्मा पर जड़ कर्म का तो कोई असर नहीं मानते है, वह तो पर पदार्थ है। परंतु विकार को भी वे पर पदार्थ बता रहे है। वे कहते है कि "पर पदार्थ और विकार का कर्ता चैतन्य को मानना ही मिथ्यात्व है।" तो ऐसी दशा मे आत्मा मे होनेवाला राग-द्वेष विकार किसका माना जाय? विकार (राग-द्वेष शुभ-अशुभ भाव) का वे चैतन्य कर्ता तो मानते नहीं है और जड़ कर्म आत्मा मे विकार कर नहीं सकता। फिर विकार कहां से आत्मा मे आया और किस कर्त्ता ने पैदा किया? कहां तक ऐसी निरर्गल बातो पर विचार किया जाय।

यद्यपि हिसा-अहिंसा की व्याख्या दिगम्बर जैनधर्म के सभी शास्त्रो मे स्पष्ट रूप से कही गई है, और श्रावक और मुनि सभी

हिंसा-अहिंसा को अच्छी तरह समझे हुए हैं और अपनी समस्त क्रियाओं में श्रावक यथाशक्ति और मुनिगण पूर्ण रूप से जीवों की रक्षा में सावधान रहते हैं। इसलिये इस विषय के प्रमाण देने की मुझे तो कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है, फिर भी दो-चार प्रमाण दे देना उचित है। दिगम्बर जैनधर्म का सबसे महान् सच्चा प्रचार करने वाले और बौद्धों को परास्त कर दिगम्बर जैनधर्म का जगत् में डंका बजानेवाले आचार्य शिरोमणि समन्तभद्र स्वामी श्रावक के लिये अहिंसा का स्वरूप इस प्रकार बताते हैः—

संकल्पात् कृत कारित मननाद्योगत्रयस्य चर सत्वान्
न हिनस्ति यत्ता दु:स्थूल वध द्विरमणं निपुणाः

रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थ—मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदना इन नौ भगों से जो त्रस जीवों को सकल्पपूर्वक (मैं इस जीव को मारू इस दुर्भावना से) कभी नहीं मारता है, वह स्थूल रूप से अहिंसा-व्रत है। यहां पर यह समझ लेना चाहिये कि श्रावक-उद्योगी आरभी हिंसा को बचाने में असमर्थ है इसलिये स्थावर हिंसा का त्यागी नहीं है। किंतु त्रस जीवों की हिंसा वह संकल्पपूर्वक कभी नहीं कर सकता है। यदि करता है तो वह श्रावक नहीं है और स्थूल रूप से भी अहिंसा पालनेवाला नहीं है।

आचार्य समंतभद्र तो यह कहते हैं कि "मैं जीव को मारू" इस सकल्प से किसी जीव को मारना महा पाप है और घोर हिंसा है। उस हिंसा को छोड देना श्रावक का अनिवार्य आवश्यक कर्तव्य है। परंतु कानजी स्वामी कहते हैं कि "मैं पर जीव की रक्षा करू" ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीव-हिंसा ही है। आचार्यों के मत से यह जीव की रक्षा अहिंसा है, कानजी स्वामी के मत से पर जीव की रक्षा पूर्ण हिंसा है।

आचार्य वसुनंदि कहते हैं—

जे तस काया जीवा पुव्वुदिट्ठ्गा हिंसि दव्वा ने
एकेंदियापि णिक्कारगेण पढमं पदं थूलं।

वसुनंदि श्रावकाचार

अर्थ-जो त्रसकायवाले जीव पहले बताये गये है अर्थात् द्वींद्रिय से लेकर पचेंद्रिय तक जितने भी जीव हैं उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। और विना प्रयोजन एकेंद्रिय जीवो की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये। यही श्रावका के लिये स्थूल अहिसाव्रत है।

तत्वार्थ सूत्रकार भगवत उमास्वामी कहते हैं:—

प्रमत्त योगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा

—तत्वार्थ सूत्र

अर्थ-प्रमाद के योग से जीवों का घात करना हिंसा है यहां पर प्राण व्यपरोपण पद आचार्य ने दिया है। उसका अर्थ है कि पांच इद्रिय-मन, वचन और शरीर, आयु श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणो का घात करना हिंसा है। केवल मन मे मारने के भावमात्र ही नहीं, किंतु जीव को शरीर से जुदा कर देना इसका नाम हिंसा है।

हिंसा के दो भेद शास्त्रो मे बताये गये है। एक भाव-हिंसा दूसरी द्रव्य-हिंसा। जहां जीव का वध नहीं भी हो किंतु भावो मे कषाय भाव है तो वह भी आत्मा की हिंसा है। परंतु जहां कषायपूर्वक (इसीका नाम प्रमाद-योग है) पर जीव का वध हो जाता है वहां आत्मा और दूसरा जीव दोनो की हिंसा हो जाती है।

आस्रव के भेदो में १०८ प्रकार से आस्र बताया गया है। उनमे संरभ, समारंभ, आरंभ, कृतकारित, अनुमादना, मन,

वचन, काय इन भेदो के विकल्पों से हिंसा की व्याख्या भी १०८ प्रकार की हो जाती है। इस सूत्र-सिद्धांत के अनुसार जहां केवल मन से हिंसा होती है, बाह्य में किसी प्राणी की हिंसा नहीं भी हो तो भी वहां मानसिक हिंसा मानी जाती है और जहा पर मानसिक दुर्भावो के साथ दूसरे प्राणी का वध हो जाता है वहां सप्रमत्त कायिक हिंसा मानी गई है। मानसिक (रागद्वेष) हिंसा के साथ दूसरे या अपने प्राणो का घात करने को तीव्र हिंसा और तीव्र पाप माना जाता है। यही दिगम्बर जैनागम है।

इसीलिये श्रावको के अष्ट मूलगुणो मे हिंसा का पूरा बचाव रखा गया है, देखिये—

मद्य पल मधु निशासन पञ्चफली विरति पञ्चकाप्तनुतिः
जीवदयाजलगालनमितिच क्वचिदष्ट गुणाः। —सागार धर्मामृत

अर्थात् मदिरा, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलो का त्याग करना—यह श्रावक कहे जानेवाले के लिये परमावश्यक है। बिना इनका त्याग किये कोई जैनी भी नहीं कहा जा सकता है। "मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर पचकः। नामतः श्रावकःख्यातो नान्यथापि तथा गृही" पञ्चाध्यायी पृष्ठ १८३, अर्थात् बिना मांसादि का त्याग किये कोई नाममात्र से भी जैन नहीं हो सकता है। क्योंकि इन चीजों मे साक्षात् त्रस-जीव उत्पन्न होते है। जल छानकर पीना और रात्रि मे भोजन नहीं करना यह भी जीवों की रक्षा के लिये श्रावक का आवश्यक कर्तव्य है। और जीवों की दया का भाव रखना तथा आस्तिक्यबुद्धि के लिये पंचपरमेष्ठी को प्रतिदिन नमस्कार करना यह भी आवश्यक है।

यहां पर जीव-रक्षा के लिये मद्यादि का त्याग (विरति) बताया गया है। परंतु कानजी स्वामी कहते हैं कि "मैं त्याग करू" यह विचार ही मिथ्यात्व है, क्योंकि पर पदार्थ से जीव का कोई संबध ही नही है। अष्ट मूलगुणों में जीवदया भी एक मूलगुण बताया गया है परतु कानजी भाई कहते हैं कि "यदि पर जीव-दया पालन के शुभ राग में धर्म हो तो सिद्ध दशा मे भी पर जीव की दया का राग होना चाहिये, परंतु शुभ राग धर्म नही है किंतु अधर्म है, हिंसा है।" दिगम्बर जैनाचार्य तो पर जीवो की दया को प्रधान धर्म बताते हे परंतु कानजी भाई पर जीवो की दया को अधर्म और हिंसा बता रहे है। दिगम्बर जैनधर्म और कानजी भाई के मन्तव्य मे आकाश-पाताल जैसा विपरीत भाव है।

कानजी स्वामी की यह समझ भी सर्वथा भूलभरी है कि सिद्धदशा मे भी पर जीव की दया का राग होना चाहिये। संसारी जीव कषायो से सने हुए है। उनके शुभ-अशुभ दोनो प्रकार का राग है। इसलिये जीव-हिंसा के अशुभ राग का त्याग और जीव-दया के शुभ राग का ग्रहण उनके लिये बताया गया है। परतु सिद्ध भगवान् के तो राग, द्वेष मोह का सर्वथा अभाव हो चुका है। उनके तो शरीर भी नहीं है, इसलिये जीवो की दया और अदया की वहां कोई सभावना भी नहीं है। कारण दया-अदया भाव राग द्वेष से होते है परंतु सिद्धो मे राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो चुके है। वहां तो राग या द्वेष होने की संभावना भी नहीं है। सिद्ध भगवान् तो आकाश के समान परम निर्मल निर्लेप है।

श्रावकधर्म और मुनिधर्म की चर्या को समझे बिना कभी किसी का कल्याण नहीं होसकता है। स्वतंत्र मत के प्रचार से कितने दिन समझदारो की आखों मे धूल झोंकी जा सकती है ?

जो धर्म अनादि काल से अविच्छिन्न चला आरहा है वह ऐसे स्वतत्र विपरीत मन्तव्यों के झकोरो से कभी नष्ट नहीं होगा। दिगम्बर जैनधर्म दयामूलक ही धर्म है। श्रावको मे तो किसी श्रेणी तक दया-भाव एव जीवरक्षा है, परंतु मुनिधर्म मे तो पूर्ण रूप से जीव-रक्षा की प्रधानता है। देखिये—

कायेंदियगुण मग्गण कुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं
णाऊणय ठाणादिसु हिंसादि विवज्जणमहिंसा

—मूलाचार, पृष्ठ ५, गाथा ७

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसजीव इन छह कायों के जीवों का स्वरूप समझना पहले आवश्यक है। एकेंद्रिय, द्विद्रिय, त्रिद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेद्रिय जीव कौन-कौन कहा रहते है यह समझना भी आवश्यक है। किन जीवो के कैसे-कैसे भाव होते है और किन-किन कर्मोदयो से जीवों मे मार्गणा होती है। कहां-कहां किन-किन जीवों के कितने कितने कुल-कोटि होते है। कुल-कोटि का स्थूल स्वरूप इतना समझना चाहिये कि जीवो की शरीर-रचनाओं मे कितने प्रकार होते है। आयु के कितने भेद है? आयु क्या वस्तु है अर्थात् शरीर मे जीव को रोक रखना इसीका नाम आयु-कर्म है? तथा जीव किस प्रकार की योनियो मे जन्म धारण करते है? सचित्त, अचित्त, मिश्र आदि रूप से ८४ लाख जीवो की योनियां होती है। इन सब जीवो के स्थानो को और उनके भिन्न-भिन्न शरीर-धारण को अच्छी तरह समझकर उन सब प्रकार के जीवो की हिंसा का त्याग करना मुनियो की हिंसा कही जाती है। सब जीवो की पूर्ण रक्षा का वे मन, वचन, काय से पूरा प्रयत्न एव सावधानी रखते है। इस एक ही गाथा मे जीव-दया के लिये सभी प्रकार के जीवो और उनकी जातियों तथा स्थानों का विचार किया गया है। तभी जीवों की रक्षा की जासकती है।

जो बात कानजी भाई कहते हैं कि शरीर जड है, उसको आत्मा से जुदा करने मे हिंसा कुछ नहीं होती है, इसी बात का समाधान महाकलंक देव ने शंका-समाधान रूप में किया है। वे कहते हैं:—

"स्यान्मतं प्राणेभ्योऽन्य आत्मा अतः प्राणवियोगे न आत्मनः किंचिद्भवति इति अधर्माभावःस्यात् तत्र किं कारणं तदुःखोत्पादकत्वात् प्राण व्यपरोपणे हिंसतिन्तसंबधिनो जीवस्य दुःखमुत्पद्यते इति अधर्म सिद्धिः।"

राजवार्तिकालकार, पृष्ठ २७५

अर्थ-शंका उठाई गई है कि आत्मा शरीर से भिन्न है अतः प्राणो का एव शरीर का वियोग होने पर आत्मा का कुछ भी बिगाड नहीं होता है, इसलिये जीव के मारने में कोई अधर्म नहीं होता है। इस शका के उत्तर में आचार्य कहते है कि यह शंका ठीक नहीं है। कारण प्राणों से जीव का संबध चला आरहा है, इसलिये प्राणो का वियोग होने से तत्सबधी आत्मा को दुःख होता है। किसी प्राणी को दुःख देना यही अधर्म है।

फिर आगे यह भी कहा गया है:—

"बंधं प्रत्येकत्वाच्च-यद्यपि शरीरशरीरिणोः लक्षण भेदान्नानात्वं तथापि बधं प्रत्येकत्वात् तद्वियोगपूर्वक दुःखोत्पत्तेरधर्माभाव— इत्यनुपालभः"

— राजवार्तिकालंकार, पृष्ठ २७५

अर्थ-यद्यपि शरीर और आत्मा दोनो का लक्षण जुदा-जुदा है, फिर भी दोनों का बध होने से दोनों में एकरसपना

आगया है। इसलिये शरीर का वियोग होने से आत्मा में दुःख होता है। इसलिये जीवों के मारने से अधर्म होता है।

राजवार्तिक के समुचित समाधान से अब कानजी स्वामी को यह समझ लेना चाहिये कि जीवों के मारन में हिंसा है और अधर्म है।

भगव कुंदकुंद स्वामी कहते हैं:—

अयदाचारो समणो छहसुविकायेसु बंध गोत्ति मदो
चरदि यदं यदि णिच्च कमल व जले निरुवलेओ

—मूलाचार, पृष्ठ २३६,
गाथा २४६

अर्थ-जो मुनि यत्नपूर्वक जीवों की रक्षा का ध्यान नहीं रखता है वह अयत्नाचारी साधु परंच स्थावरकाय और त्रसकाय इन छह काम के जीवों का हिंसक बनकर नित्य बध करनेवाला माना जाता है और जो यत्नपूर्वक जीवों की रक्षा का ध्यान रखता हुआ प्रवृत्ति करता है वह जल से भिन्न कमल के समान निर्लेप माना जाता है।

जहां कानजी स्वामी—"मैं जीव को बचाऊ ऐसे भाव को भी मिथ्यात्व कहते हैं आचार्य कुंदकुद स्वामी कहते हैं कि मुनि यदि जीवों की रक्षा नहीं करता तो वह हिंसक एवं कर्मों का बध करनेवाला है।

हिंसा-अहिंसा के संबंध में अधिक लिखना व्यर्थ है। श्री कानजी स्वामी को उनका स्वरूप समझकर अपने विपरीत मन्तव्यों को छोड़ देना चाहिये।

श्री कानजी स्वामी का दूसरा मन्तव्य
शरीर-क्रिया से धर्म का कोई सबध नही
(ध्यान से पढिये)

प्रश्नः—यदि अच्छा सत्समागम हो तो उसका असर होता है या नही ?

उत्तरः—बिलकुल नही। किसीका असर पर के ऊपर हो ही नही सकता। सत्समागम भी पर है, पर की छाप तीन काल और तीन लोक मे अपने ऊपर नही पड सकती। पृष्ठ ६७, अक ७, वर्ष १

" अज्ञानी जीव यह जानता है कि लकडी ऊँची हुई परन्तु इसे ऊँचा मैंने किया है।" प्रश्न—हाथ तो आत्मा ने हिलाया तभी हिला न ? उत्तर—हाथ तो जड है, चमडा है, वह आत्मा नही है। आत्मा और हाथ दोनो भिन्न पदार्थ हैं आत्मा हाथ का कुछ कर नही सकता। ऐसा मानना तो चमडेको स्व-रूप मानना है।

आ० ध० पृष्ठ ७, अक १, वर्ष १

" यदि केवल ज्ञान उत्पन्न होने में आत्मा को वज्र वृषभ नाराच सहनन की सहायता की आवश्यकता पडने लगे तो जड और आत्मा दोनो पराधीन कहलायेगे क्योकि यदि वज्र वृषभ नाराच सहनन शरीर के आधार से केवलज्ञान प्रकट होना हो तो आत्मा को अपने केवलज्ञान के लिए जड मे पुरुषार्थ करना पडेगा।

पृष्ठ १२६, अक ६, वर्ष १

" केवलज्ञान होने के समय वज्र वृषभ नाराच सहनन होता है इसीलिए यह नही मान लना चाहिए कि वज्र वृषभ नाराच सहनन से आत्मा को केवलज्ञान हुआ है अथवा केवलज्ञान के उत्पन्न होने में उसने किसी भी प्रकार की सहायता दी है।" पृष्ठ १२६, अक ६, वर्ष १

" शरीर, मन, वाणी, चक्षु आदिक पाच इन्द्रिया सब आत्मा से पर हैं। वह ठीक रहें या न रहे उनपर आत्मा का धर्म अवलम्बित नही है। शरीर अच्छा होगा तो धर्म होगा और पाच इन्द्रिया ठीक होगी तो इस धर्म में सहायक होगी इस प्रकार जो पर के आधीन से आत्मधर्म को मानता है वह मिथ्यादृष्टि है "

पृष्ठ १२०, अक ८, वर्ष १

" जो शरीर की क्रिया में धर्म मानता है सो तो बिलकुल बहिल-दृष्टि मिथ्यादृष्टि है किन्तु यहाँ तो जो पुण्य में धर्म मानता है सो भी मिथ्य दृष्ट है।"

" जितनी पर जोव की दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि की शुभ लगन या हिंसादिक की अशुभ लगन उठती है, वह सब अधर्म भाव है।" आ० धर्म पृष्ठ १०, अक १, वर्ष ४

शरीर की क्रिया से धर्म नही हो सकता है—
इसका सप्रमाण खडन

श्री कानजी स्वामी कहते है—

"जो शरीर की क्रिया मे धर्म मानता है सो तो बिलकुल बहिर्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है।"

यह भी हिंसा की अनोखी व्याख्या के समान एक नया आविष्कार है कि शरीर-क्रिया में धर्म मानना मिथ्यात्व है। परन्तु शास्त्रो में धर्म और अधर्म दोनो शरीर-क्रिया के आश्रित हैं। इस संबंध मे पहलीबात तो यही है कि वज्र वृषभ

नाराच संहनन ही मोक्ष प्राप्ति मे साधक है । आचार्य उमास्वामि कहते है—

"उत्तम संहननस्यै काग्र चितानिरोधो ध्यान प्रान्तर्मुहूर्तात्"

—तत्वार्थसूत्र

इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य अकलंकदेव कहते हैं कि—"कुतो ध्यानादिवृत्ति विशेष हेतुत्वात् । तत्र मोक्षस्य कारणं आद्यमेकमेव"

—राजवार्तिक, पृष्ठ ३४८

आचार्य कहते हैं कि ध्यान आदि का विशेष कारण उत्तम सहनन है । विना उत्तम संहनन के उत्तम ध्यान नहीं हो सकता है । इसके आगे यहां तक स्पष्ट करते है कि मोक्ष-प्राप्ति का कारण आदि का वज्रवृषभ नाराच संहनन ही है। इतना खुलासा होने पर भी कानजी स्वामी जो यह कहते है कि केवल ज्ञान होने मे यदि वज्र वृषभ नाराच संहनन की सहायता मानी जाय तो जड़ और आत्मा दोनो पराधीन कहे जायेगे । कितनी विपरीतता है !

यह बात बहुत ही आश्चर्य मे डालती है कि जब सभी आचार्य जिस बात का विधान करते हैं उसे अपनी कल्पना से नहीं मानना यह मिथ्यात्व नहीं है क्या ? पराधीनता की कोई बात भी नहीं है । यहां तो साध्य-साधक की बात है । केवलज्ञानावरण कर्म के दूर हुए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि वह सर्वघाति प्रकृति है । उस बाधक केवल ज्ञानावरण कर्म को आत्मा ने ध्यान के द्वारा हटा दिया, उसके हटाने में सहायता वज्र वृषभ नाराच सहनन से मिली क्योंकि विना उस सहनन के इतना कठोर, एवं एकाग्रचित्त

वाला सर्वोत्कृष्ट ध्यान असंभव है। इसलिये वज्रवृषभ नाराच संहनन से आत्मा पराधीन नहीं हुआ किंतु आत्मा की स्वाधीनता की प्राप्ति मे वह उत्तम शरीर साधक ही बना है।

इसके सिवा काय-क्लेश आदि तपश्चरण को निर्जरा का कारण बताया गया है—"तपसा निर्जराच" इस सूत्र के अनुसार काय क्लेश से सवर और निर्जरा होती है। प्रतिमायोग धारण करना वृक्षमूल मे ध्यान करना, आतपन योग धारण करना, मृतकासन, वज्रासन आदि आसनों से ध्यान करना, ये सब क्रियाएँ शरीराश्रित ही हैं, इसलिये ध्यान का साधन शरीर है, अतः शरीर की क्रिया मे धर्म नहीं मानना शास्त्रविरुद्ध है।

मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः

—तत्वार्थसूत्र

संवर से च्युत नहीं होने और निर्जरा के लिये बावीस परीषहो को मुनिगण सहन करते हैं। क्षुधा तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्न परीषक रोग आदि परीषह शरीर-क्रिया से ही संबध रखती है। परीषहों को सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती है। ये सब शरीर-सम्बन्धी क्रियाएँ हैं।

फिर ईर्या भाषा एषणा आदान निक्षेपण व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) ये सब समितियां शरीर की क्रिया की मुख्यता रखती हैं। शौचधर्म जो आत्म-विशुद्धि का मूल कारण है शरीर-क्रिया से ही सम्बन्ध रखता है।

भगवान् का पूजन, अभिषेक, तीर्थवंदना, मुनि-दान आदि सब क्रियाएँ श्रावकधर्म रूप हैं। वे शरीर से ही होनेवाला

धम है। इसलिये मुनि-धर्म और श्रावक-धर्म क्रियात्मक सब शरीर से ही होता है, इसलिये-शरीर-क्रिया से धर्म नहीं होता-ऐसा कहना आगम-विरुद्ध एवं प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

इसी प्रकार अधर्म भी शरीर-क्रिया से होता है। जूआ खेलना, मांस-भक्षण करना, हिंसा करना, चोरी करना, कुशील सेवन करना आदि सब अधर्म-रूप क्रियाएँ भी शरीर-क्रियाश्रित है। इसलिये शरीर-क्रिया से धर्म-अधर्म का संबध नहीं बताना, सर्वथा असंगत है।

कानजी स्वामी शरीर-क्रिया को जड़ की क्रिया बताते हैं परंतु यह बात प्रत्यक्ष अनुभव आगम तीनों से विरुद्ध है।

जीवरहित शरीर की क्रिया जडक्रिया कही जाती है। परंतु यह बात सर्व-प्रत्यक्ष और अनुभव मे आरही है कि सशरीर जीव अपनी इच्छा से अभीष्ट स्थान में पहुचता है। इच्छा-पूर्वक व्यापार करता है। इच्छापूर्वक व्यसन सेवन करता है। इच्छापूर्वक तीर्थयात्रा-देवपूजा, मुनिदान आदि करता है। ये, सब क्रियाए शरीराश्रित क्रियाए हैं। ये क्रियाए केवल जड शरीर मे कभी नहीं हो सकती है। जैसे मृत शरीर मे बुद्धिपूर्वक अभीष्ट क्रिया नहीं होसकती है वैसे सशरीर जीवात्मा की शरीर-क्रिया जडक्रिया नहीं है किंतु सचेतन शरीर की बुद्धिपूर्वक क्रिया है, इसलिये-शरीर-क्रिया मे धर्म नहीं है, यह कथन सर्वथा मिथ्या और प्रत्यक्ष बाधित है। विना इच्छा भी सशरीर जीव की क्रिया जड शरीर की क्रिया नहीं होसकती जैसे तीर्थंकर भगवान समवसरण मे दिव्यध्वनि करते है, वचन-वर्गणा खिरती है, वे-सर्वत्र विहार करते है-इनमे जो शरीर-क्रिया होती है, वह भगवान् की तीर्थंकर प्रकृति के अनन्यतम पुण्योदय से सशरीर जीव की क्रिया है। जड शरीर की क्रिया मानी जाय तो उससे जीवों को कैसे लाभ हो सकता है।

जब कोई शंका छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों को होती है तब उनका आहारक शरीर तीर्थंकर के पास पहुंचकर उनके शरीर का स्पर्श कर लौट आता है, उस शरीर-स्पर्श से मुनियो की शंका दूर हो जाती है और संयम में शुद्धता आ जाती है। यह भी जड शरीर की क्रिया नहीं है किंतु सजीव शरीर की क्रिया है जो धर्म-रूप है। श्री कानजी स्वामी इसीलिये प्राणी की हिंसा करने को हिंसा नहीं बताते हैं, वे उसे जड शरीर का पृथक्करण बताते हैं। ऐसी-ऐसी मनगढत बातें जो वस्तु-स्वरूप को छूती भी नहीं है और सरासर बाधित हैं। उन्हें भी लोग सुनते है और मानते है, वे उस कहने की शैली और वचनो के प्रभाव मे आकर अपनी नासमझी से आगम की बात को और प्रत्यक्ष अनुभव को भी भूल जाते है, यही आश्चर्य की बात है।

कोई बालक छत से नीचे पत्थर पर गिर जाता है, उसका शिर फट जाता है, उसे भारी वेदना (कष्ट) होती है तो उसे क्या जड शरीर की क्रिया माना जायगा। यदि माना जाय तो क्या जड भी दुःख का अनुभव कर सकता है ? यदि कर सकता है तो फिर दीवार मे या चौकी पर लट्ठ या तलवार मारो तो क्या सशरीर जीव के समान उसे भी कष्ट होगा ?

एक वधिक (कसाई) पशु को मारता है तो क्या मारने-वाले और मरनेवाले दोनो के शरीर की क्रिया जड की क्रिया है ? फिर तो पशु को शस्त्राघात मे सीमातीत दुःख नहीं होना चाहिये। दुख का भोक्ता और अनुभव करनेवाला जड शरीर कानजी भाई के मत से होता है क्या ? और उस कसाई की शरीर-क्रिया भी यदि जड की क्रिया है तब उसे नरकगति आदि मे पापबंध से क्यों जाना पड़ता है ?

देव-पूजा, तपश्चरण, तीर्थयात्रा आदि मे होनेवाली शरीर-क्रिया यदि जड़ की क्रिया है तो फिर उससे पुण्य-बंध, सवर और कर्म-निर्जरा कैसे होती है ? क्या कर्म-बध और कर्म-निर्जरा भी जड़ शरीर में ही होती है ? जीव का यदि उससे कोई संबध नहीं है तब तो तपश्चरण जो शरीर-क्रिया है उसमे मोक्ष भी शरीर को ही होगी। यह तो पक्का सांख्यमत बन गया, सांख्य मानता है कि जीव से प्रकृति (कार्य) का संबधमात्र है परतु नरक, स्वर्ग आदि सब उस कर्म को ही होते है। जीव तो पानी मे कमल के समान निर्लेप (जुदा) रहता है। सांख्य मत को शास्त्रो मे एकान्त मिथ्यात्व बताया गया है। उसके समान कानजी स्वामी का मत भी है।

कानजी स्वामी कहते हैं कि "मै पंडित हू, सर्वश्रेष्ठ हू, दिगम्बर हू, बौद्धमत का आचार्य हू अथवा श्वेताम्बर हूं इत्यादि शरीर के भेदो को मूर्ख आदमी अपना मानता है, ये भेद जीव के नहीं है।"

यह मान्यता क्या वस्तु-स्वरूप से विपरीत नहीं है। पंडित, आचार्य बौद्ध जैन धर्मवाला, गुणो से सर्वश्रेष्ठ, ये सब तो शरीर से संबध रखनेवाली बाते नहीं है किंतु आत्मा से सबध रखती है। ये सब ज्ञान और धर्म का स्वरूप है जो आत्मा के भाव है परतु कानजी स्वामी इनको जीव के भेद नहीं मानकर शरीर के भेद बताते हैं और जीव के भेद माननेवालो को मूर्ख समझ रहे हैं। कौन मूर्ख है, यह पाठक समझे। शरीर के धर्म तो काला, गोरा, नाटा, लंबा, सुदर, रूप, कुरूप, बेडौल-सुडौल आदि कहे जाते हैं परतु जैनधर्मी, बौद्धधर्मी, पडित, आचार्य आदि बातों से तो आत्मा के ज्ञान और उसके भावो का संबंध है। पंडित, आचार्य, जैनधर्म, बौद्धधर्म भी यदि शरीर के ही भेद माने जायें

तब तो सरागता, वीतरागता, उपशान्त, क्षीणमोह आदि सबका भी शरीर के ही भेद मानो और जीव की अशुद्ध-विशुद्ध उन सब अवस्थाओं को भी जड़ शरीर की मानो। केवलज्ञान भी जड़ शरीर मे होता है, वह भी शरीर का ही भेद होगा। धन्य है इस समझदारी को ! इन्हीं आविष्कारो से वे सद्गुरु बन गये है, अन्यथा उन्हे सद्गुरु कौन ज्ञानवान् मानता ? जैसे मूर्ख अज्ञानी बालक दर्पण मे अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखकर यह समझता है कि यह दूसरा बालक इस दर्पण मे बैठा है अथवा मै ही उसमे चला गया हू तब वह उठकर दर्पण के पीछे जाकर देखता है वह दर्पण की अपने निमित्त से होनेवाली पर्याय को अपना स्वरूप मान लेता है। जो लोग दर्पण मे पडे हुए प्रतिबिम्ब को दर्पण की पर्याय मानते है वे उस अज्ञानी बालक की दृष्टि मे मूर्ख है। यही बात यहां घटित होती है। शरीर के आश्रय से होनेवाले आत्मा के भावो को श्री कानजी भाई शरीर के भेद मानकर दूसरे सभी आत्मधर्म माननेवालो को मूर्ख बता रहे है। इस सबध में अधिक लिखना व्यर्थ है।

उन्होने जो दृष्टान्त दिये हैं वे विद्वानों एवं समझदारो की दृष्टि मे तत्वसून्य और निःसार है। उनका केवल दिग्दर्शन यहां पर कर देना पर्याप्त हैः—

वे कहते है कि किसी व्यक्ति ने लकड़ी हाथ से उठाई और उसे एक बालक के शरीर पर मार दी तो (कानजी स्वामी कहते हैं कि) लकड़ी स्वय अपने-आप उठी है और अपने-आप बालक के शरीर पर पहुच गई है। जिस व्यक्ति ने अपने हाथ से लकड़ी को उठाया है और बालक के मारी है उस व्यक्ति और उसके हाथ ने कुछ नहीं किया है क्योंकि हाथ तो जड़ है, वह चमडा है। क्या बुद्धि-पूर्वक लकड़ी उठाकर बालक मे मार देना यह जड़ की क्रिया मानी

जा सकती है ? परतु कानजी स्वामी जो कहे और जैसा माने सो सब थोडा है।

कानजी कहते है कि सत्समागम कुछ नहीं कर सकता है क्योंकि वह पर है, परंतु श्रावकगण भगवान की पूजा करने के पश्चात् प्रतिदिन यह भावना प्रगट करते है कि "सगतिः सर्वदार्यैः" अर्थात् सत्पुरुषो का मुझे समागम मिलता रहे तो यह शास्त्र-प्रमाण व्यर्थ ही है क्या ? हिन्दी की रचना है:—

ऊची संगति साधु की, हरै और की व्याधि

ओछी सगति नीच की आठो पहर उपाधि

और प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि जिस संगति में जो बैठता है वैसे ही संस्कार और आचरण उसके बन जाते है। कानजी स्वामी का मन्तव्य प्रत्यक्ष विरुद्ध है। कानजी स्वामी इद्रियो और मन को भी आत्मा से भिन्न जड मानते है। वे कहते है कि आत्मा का धर्म इन इद्रियो और मन पर अवलबित नहीं है। क्या ऐसा मानना सिद्धांत-विरुद्ध नहीं है ? द्रव्येद्रियां जड़ है, द्रव्य मन भी जड है परतु क्या भावेंद्रिय और भाव-मन भी जड है क्या ? "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" यह तत्वार्थ सूत्र है इसके अनुसार लब्धि (क्षयोपशम रूप-ज्ञान) तथा उपयोग (पदार्थ को जानना) ये दोनों तो मतिज्ञान के भेद हैं और आत्मा का गुण है। यदि ये भावेंद्रिय और भाव मन क्षयोपशम रूप-ज्ञान भी जड़ है तो केवल क्षायिक भाव भी जड़ मानना पड़ेगा।

कानजी स्वामी कहते है कि लड़ाई मे शत्रु पर विजय मैं अपने पुरुषार्थ से पा रहा हू अथवा अपने पुरुषार्थ की कमी से मैं

हार रहा हू और लड़ाई मे शरीर की क्रिया मेरी शक्ति से होती है, यह समझ अज्ञानी की है।

क्या यह जैन-सिद्धांत है ? क्या शरीर स्वय लड रहा है ? विना जीव की इच्छा और विना जीव के प्रयत्न के स्वय जड़ शरीर कभी तलवार, कभी बदूक को उठाता है, कभी घोड़े पर कभी हाथी पर बैठकर लडता है, कभी किसी पर कभी किसी पर प्रहार करता है, कभी आगे कभी पीछे जाता है, क्या ये सब क्रियाए जीव के भावो एव उसके पुरुषार्थ से नहीं होती हैं ? क्या बुद्धिपूर्वक क्रियाऐ जडमात्र शरीर की हो सकती है ?

क्या समवसार के निश्चयनय का ऐसा ही स्वरूप है ? फिर तो मोक्ष-प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य धारण करना, तपश्चरण करना, पांच समिति, षडावश्यक पालना ये सब क्रियाए जड़ की ही मानी जाएगी। मोक्ष प्राप्ति के लिये शरीर से भिन्न केवल आत्मा का क्या पुरुषार्थ और क्या चर्या होगी ? वस्त्र छोडकर नग्नता धारण करना, पीछी द्वारा जीवों की रक्षा करना, केश-लुचन करना आदि सब क्रियाए जड शरीर की क्रियाए मानी जाएगी तब मोक्ष प्राप्ति मे उन्हे साधक मानना और मुनिधर्म के लिये आवश्यक मानना यह शास्त्रो का विधान कानजी स्वामी के मन्तव्यों से सर्वथा विरुद्ध ही ठहरता है। बस इतना लिखना पर्याप्त है।

श्री कानजी स्वामी का देव, गुरु, शास्त्र के विषय मे तीसरा विपरीत मन्तव्य
(ध्यानपूर्वक पढ़ लीजिये)
(मोक्ष-मार्ग का ही विनाश)

" जिस प्रकार कुगुरु कुदेव कुशास्त्र की श्रद्धा और सुदेवादिक की श्रद्धा दोनो मिथ्यात्व हैं तथापि कुदेवादिक का श्रद्धा मे तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादिक की श्रद्धा में मन्द ।" "आजकल के व्रतधारियो की व्यवहार-श्रद्धा भी सच्ची नही है जो यह नही जानते कि अपने परिणाम स्वतत्र हैं। उनके तो दर्शन-शुद्धि का व्यवहार भी यथार्थ नही है। मिथ्यात्व की मदता भी वास्तविक नही है। वस्तु स्वरूप ही ऐसा है । वह किसीकी अपेक्षा नही रखता। त्यागादि के शुभ परिणामो द्वारा वस्तु-स्वरूप की साधना नही हो सकती।"

आ० ध० पृष्ठ ८६, अक ६, वर्ष ४

" धर्मक्रिया करने की बात सब लोग किया करते हैं परन्तु क्रिया का स्वरूप कैसा है इस बात-से बहुत से मनुष्य बिलकुल अपरिचित हैं। समाज के जन-साधारण की बहुसख्या तो कुल-क्रमागत चली आई हुई प्रथा को ही क्रिया (चारित्र) कहता है। 'पुण्य से धर्म होता है' कई इसी मान्यता के अनुयायी हैं। कई ऐसा मानते हैं कि भगवान् की पूजा, भक्ति से, भगवान् के दर्शन से और व्रत-तप से ही धर्म होता है। परन्तु इन सभी मान्यताओ मे कुछ-न-कुछ त्रुटि है। इसीलिए धर्म-क्रिया का स्वरुप समझने की बडी आवश्यकता है। इस विषय में एक सूत्र प्रचलित है 'ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष' लेकिन इसका तात्पर्य समझने का मनुष्य प्रयत्न नही करते है। कितने ही मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया इनसे मोक्ष होता है, लेकिन यह जानना भ्रमात्मक है। इस सूत्र का सत्यार्थ इस प्रकार है। ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान है

और क्रिया का अर्थ है आत्मा की स्थिरता। इन दोनो के एकीकरण से राग-द्वेष का नाश होकर वीतरागता प्रकट होती है और उसका फल मोक्ष है। आ० ध० पृष्ठ ११, अक १, वर्ष १

"व्रतशील सयम आदि का नाम व्यवहार नही है, परन्तु उसे मोक्ष-मार्ग मानना व्यवहार है, ऐसी मान्यता तो त्यागने योग्य ही है।"
आ० ध० पृष्ठ ३५, वर्ष १, अक ३

"कितने ही लोग केवल त्याग से जैन-धर्म की महत्ता मानते हैं किन्तु यह मान्यता ठीक नही है।" आ० ध० पृष्ठ ४०, अक ३, वर्ष १

"देव, गुरु, शास्त्र भी पर हैं, उसका मेरे में अभाव है, वह अभाव वस्तु के आधार से (देव, गुरु, शास्त्र के आधार से) मेरा धर्म नही है।" आ० ध० पृष्ठ ५३, अक ४, वर्ष १

"मुनित्व बाह्य त्याग में नही किन्तु आन्तरिक समझ में है।"

प्रश्न—"बाह्य लिंग से क्या मुनित्व या ज्ञानीपन निश्चित हो सकता है ?"

उत्तर—"कदापि नही हो सकता।"
आ० ध० पृष्ठ १११, अक ८, वर्ष १

प्रश्न—"भगवान् ने श्रावक के लिए दान, शील, तप और भाव ये चार आवश्यक क्रियाए कही हैं तो उनका क्या होगा ?"

उत्तर—"उक्त मान्यता में बहुत बड़ी भूल है। जैसे कि आपने कहा है उन लोगो को श्रावक कहा जाता है लेकिन वीतराग ने कहा है कि श्रावक वही कहलाता है जिसे अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो चुका है।" आ० ध० पृष्ठ ११८, अक ८, वष १

"लौकिक जन तथा कोई अन्यमती कहते हैं कि जो पूजादिक शुभ क्रिया तथा व्रत-क्रिया सहित है सो जैनधर्म है किन्तु यह ठीक

नहीं है। जैन-मत में जिनेन्द्र भगवान् ने यह कहा है कि जो पूजादिक में और व्रतसहित होता है उसमें जो मन्द कषाय हो तो पुण्य है। वहां पर पूजा के बाद जो 'आदिक और' शब्द का प्रयोग किया है उससे भक्ति, वन्दना, वैयावृत्य आदि लेना चाहिए, जो कि देव, शास्त्र, गुरु के प्रति होता है और फिर उपवास आदिक व्रत है जो शुभ क्रिया है उसमें आत्मा में रागसहित शुभ परिणाम है। उसके द्वारा पुण्यकर्म उत्पन्न होता है। इसीलिये उसे पुण्य कहते हैं। उसका फल स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है।" आ० ध० पृष्ठ १७२, अंक १२, वर्ष १

"द्रव्यलिंगी मुनि उसे संसार-तत्त्व कहा जाता है। द्रव्यलिंगी मुनि छहकाय के जीवों की दया पालता है, निरतिचार अहिंसा व्रतों का पालन करता है, सभी व्रतों का निरतिचार पालन करता है। इतना करने पर भी वह धर्म नहीं है। क्योंकि स्वरूप का भ्रम होने से धर्म नहीं हो सकता।"

"ये अज्ञानी मुनि मिथ्या बुद्धि से पदार्थ का श्रद्धान नहीं करते हैं। अन्य को अन्य कल्पना करते हैं, मिथ्या दर्शन से चित्त की मलिनता के कारण अविवेकी हैं। यद्यपि द्रव्यलिंग को धारण कर रहे हैं तो भी परमार्थ मुनिपने को प्राप्त नहीं हुए हैं। और जो मुनि के समान मालूम होते हैं वे अनन्त काल तक अनन्त परावर्तन कर भयानक कर्म-बल को भोगते हुए भटकते हैं। इसीलिये ऐसे श्रमणाभास मुनि को संसार-तत्त्व जानना चाहिये दूसरा कोई संसार-तत्त्व नहीं है। बाह्य लिंग से मुनित्व और ज्ञानीपन कभी निश्चित नहीं हो सकता।" आ० ध० पृष्ठ १११, अंक ८, वर्ष १

"प्रतिक्रमण हिंसादि भाव से 'मिच्छामि दुक्कड' करना अर्थात् पाप से निवृत्त होना इस शुभ भाव को भी भगवान् ने विष कहा है।" आ० ध० पृष्ठ १४५, अंक १२, वर्ष १

"देव, शास्त्र, गुरु पर हैं। धर्म का सम्बन्ध पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। धर्म पर के साथ सम्बन्ध नहीं रखता।"

"आत्मा का धर्म आत्मा में है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति शुभ भाव अशुभ भाव घटाये भले जाते हैं किन्तु धर्म की दृष्टि में वह आदरणीय नहीं हैं।" आ० ध० पृष्ठ ४, अंक १, वर्ष २

"महाव्रत पालने का विकल्पसहित समस्त शुभ भाव तीन लोक के तीर्थंकरदेव से लेकर समस्त ज्ञानियों के भी विष हैं। अज्ञानी की तो यहा बात ही नहीं हैं। प्रारम्भ में भी शुभ भाव सहायक होते हैं- ऐसा माननेवाला महा पापी है।"

आ० ध० पृष्ठ २१, अंक २, वर्ष २

"शुभ भाव को धर्म मानकर अथवा लाभकारक मानकर करना सो अज्ञानता है।" आ० ध० पृष्ठ ४०, अंक ३, वर्ष २

प्रश्न—"धर्म के लिये पूजा आवश्यक है या नहीं ?"

उत्तर—'पूजा अशुभ भाव को छोडने मात्र के लिये शुभ भाव में निमित्त है किन्तु उसमें धर्म नहीं होता क्योंकि पूजा में भगवान् के प्रति राग है और जो राग है वह धर्म नहीं हो सकता है।"

आ० ध० पृष्ठ ४१, अंक ३, वर्ष २

"जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन पर, किसी पुस्तक, चमत्कार या व्यक्तिविशेष पर निर्भर नहीं है। यह तो सत्य का अखड भंडार तथा विश्व का धर्म है, अनुभव इसका आधार है, युक्तिवाद इसकी आत्मा है।" आ० ध० पृष्ठ १२७, अंक ८, वर्ष २

"बाह्य में जो पर द्रव्य का त्याग हुआ उसका फल आत्मा को नहीं होता। 'मैं इस पर द्रव्य को छोड़ूं' यह माने तो ऐसी

पर द्रव्य की कर्तृत्व बुद्धि का महा पाप आत्मा को होता है और उसका फल ससार ही है। आ० ध० पृष्ठ १३८, अक ६, वर्ष २

" बहुत-से जिज्ञासुप्रो के यही प्रश्न उठता है कि धर्म के लिए पहले क्या करना चाहिए, पर्वत पर चढा जाय, सेवा-पूजा की जाय-गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त की जाय अथवा दान दिया जाय। इसके उत्तर में कहते हैं कि इसमे कही भी आत्मा का धर्म नही है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नही है, किसी के अवलम्बन से धर्म नही होता।" आ० ध० पृष्ठ १४६, अंक ६, वर्ष २

" भगवान् की भक्ति का" जो शुभ राग होता है वह राग निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी प्रकार से धर्म नही है, परन्तु जिसने उस राग में ही धर्म मान रखा है और राग को आदरणीय माना है उसके धर्म तो नही परन्तु अपने वीतराग स्वभाव के अनादर-रूप मिथ्यात्व का अनन्त पाप क्षण-क्षण में उसके विपरीत मान्यता पर होता है। राग को अपना धर्म मानना सो अपने वीतराग स्वभाव का अनादर है, वह महान् पाप है। यदि 'पर की कोई भी क्रिया मैं कर सकता हूँ अथवा पुण्य से मेरे स्वभाव को लाभ होता है', ऐसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। वह क्रिया-काड करके और त्याग करके मर जाय तो भी वह साधु नही है, त्यागी नही है, श्रावक नही है, जैन नही है।"

आ० ध० पृष्ठ ६७, अंक १०, वर्ष २

" यदि कोई जीव सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को पहचानकर कुदेवा-दिक का सेवन छोड दे तो उतने मात्र से धर्म नही हो जाता।"

अ० ध० पृष्ठ ४०, अंक ३, वर्ष ४

" आत्म-स्वभाव की प्रतीति के विना द्रव्यलिगी निर्ग्रन्थ मुनि और उसके शरीर पर तेल डालकर जीवित जला दिया जाय

तो भी वे क्रोध का भाव नही करेंगे किन्तु उनके उत्तम क्षमा नहीं कही जा सकती, क्योंकि क्षमा की शुभ वृत्ति को वे अपना स्वरूप मानते हैं।" आ० ध० पृष्ठ ११, अक १, वर्ष ४

पुण्य धर्म नही है

"आत्मा स्वतत्र वस्तु है, उसमें शरीरादि पर की क्रिया लाभ या हानि का कारण नही है तथा जो शुभ भाव होते हैं वे भी मोक्ष-सुख के कारण नही हैं। आत्मा के स्वाधीन सुख का कारण पर वस्तु हो ही नही सकती है।"

"पाप को छोडकर पुण्य से धर्म मानकर तो तू अनादि काल से चक्कर लगा रहा है।" आ० ध० पृष्ठ १४४, अक १२, वर्ष १

प्रश्न—"क्या शुभ भाव करना सो अज्ञान है।"

उत्तर—"शुभ भाव को धर्म मानकर अथवा लाभकारक मानकर करना सो अज्ञानता है।" आ० ध० पृष्ठ ४०, अक ३, वर्ष २

"पुण्य की हद पाप से बचने मात्र तक ही सीमित है। चाहे जितना उत्कृष्ट पुण्योपार्जन किया जाय तो भी पुण्य से कभी धर्म नही होता, मात्र बाह्य जड पदार्थों का सयोग प्राप्त हो सकता है।"
आ० ध० पृष्ठ ८५, अक ६, वर्ष १

"जो शुभाशुभ भाव होता है वह कोई कर्म या शरीर नही करवाता किन्तु वह केवल अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होता है"
आ० ध० पृष्ठ ३८, वर्ष १, अक ३

"पुण्य आत्मा का विकारी भाव है धर्म आत्मा का अविकारी भाव है। विकारी भाव से अविकारीपने की प्राप्ति नही हो सकती।

अत: स्वत. सिद्ध है कि पुण्य से धर्म की प्राप्ति नही हो सकती न पुण्य धर्म का सहायक है। पुण्य का फल ससार है।"

आ० ध० पृष्ट ८६, अक ६, वर्ष १

"पुण्य करते-करते धर्म होगा इस मान्यता का निषेध है! पुण्य से न धर्म होता है न आत्मा का हित। इससे निश्चित हुआ पुण्य धर्म नही, धर्म का अग नही, धर्म का सहायक भी नही। जब तक अन्तरग में पुण्येच्छा विद्यमान है तब तक धर्म की शुरूआत भी नही, अत पुण्य की रुचि धर्म में विघ्नकारिणी है।"

आ० ध० पृष्ठ ८६, अक ६, वर्ष १

"लोग बाह्य क्रिया तथा राग में व्यवहार मानते हैं किन्तु वह तो व्यवहार भी नही है। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, तत्वो का नव ज्ञान छह काय के जीवो की दया का पालन व्यवहार है, वह भी धर्म का कारण नही है।"

आ० ध० पृष्ठ १६, अक १, वर्ष ४

"पंच महाव्रत की शुभ वृत्ति भी नही करके मात्र चैतन्य के अनुभव में लीन हो ऐसी भावना रखनी।"

आ० ध० अक १२, वर्ष ६

"कोई जीव यह मानते हैं कि दान, पूजा तथा यात्रा आदि से धर्म होता है और शरीर की क्रिया स धर्म हाता है, यह मान्यता मिथ्या है।"

आ० ध० अक ५, वर्ष ३

"व्यवहार के आश्रय से मोक्ष-मार्ग होना मानते हैं ऐसे जीव तो तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। उनमे तो सम्यक्त्व होने की पात्रता ही नही है।"

आ० ध० अक १२, वर्ष ६

देव, शास्त्र, गुरु पूजा सस.र का कारण है और वह मिथ्यात्व है—इस मान्यता का खडन

श्रीकानजी स्वामी देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा और पूजा के संबध मे जो कुछ मन्तव्य प्रगट करते हैं उनका दिग्दर्शन उनके प्रवचनो के उद्धरण देकर ऊपर स्पष्ट किया जाचुका है। पाठक उन्हें ध्यान से पढे। उन्हे पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि वे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा और पूजा को मिथ्यात्व और संसार का कारण बताते है। वे शास्त्र-स्वाध्याय से आत्मा का कोई लाभ नहीं बताते हैं क्योकि उनकी दृष्टि मे शास्त्र, गुरु, देव सब पर है। महाव्रत धारण करना, वस्त्रो का एव धन, कुटुम्ब आदि का त्याग करना आदि सब त्याग का विकल्प मिथ्या है—ऐसा वे स्पष्ट कहते है। इसीलिये वे वस्त्रादि का त्याग करनेवाले समस्त मुनियो को द्रव्यलिगी कहते है। वे बाह्य क्रिया को मुनि-धर्म नहीं मानते है किंतु आत्मा मे स्थिरता होने का नाम ही क्रिया है ऐसा कहते है। स्वामीजी कहते है कि व्रत, शील, सयम आदि को मोक्ष-मार्ग समझना यह मान्यता त्यागने योग्य है। दान-शील आदि क्रियाओ को करनेवाला श्रावक नहीं है किंतु आत्मा के यथार्थ रूप को समझनेवाला ही श्रावक है। स्वामीजी अष्ट मूलगुण अथवा २८ मूलगुण व्रत-समिति आदि क्रियात्मक चारित्र को श्रावक और मुनि के लिये हेय और त्याज्य बताते हैं; केवल आत्मबोध को ही श्रावक मुनिधर्म मानते है। छह काय के जीवों की दया पालना, अहिंसादि व्रतो का निरतिचार पालन करना ये सब धर्म नहीं हैं। ऐसा कानजी भाई का मन्तव्य है।

मै महाव्रत धारण करूं और सभी वस्तुओं का त्याग करूं, यह विकल्प करना तीर्थकरो से लेकर समस्त ज्ञानियों के लिये

विष है। देव, शास्त्र, गुरु के प्रति जो शुभ भाव है वह आदरणीय नहीं है। कानजी स्वामी कहते है कि:—

"जिसके भगवान की भक्ति का जो शुभ राग होता है वह निश्चय और व्यवहार से भी धर्म नहीं है, उसे जो धर्म मानते हैं और उसे आदरणीय मानते हैं वे वीतराग स्वरूप का अनादर-रूप मिथ्यात्व का अनंत पाप क्षण-क्षण मे अपनी विपरीत मान्यता पर करते हैं।"

ये सब मन्तव्य कानजी स्वामी के प्रवचनो मे प्रतिदिन होते हैं। आत्मधर्म की समस्त प्रतियां इन्हीं बातो से भरी पड़ी हैं। कहां तक लिखा जाय!

क्या यही दिगम्बर जैनत्व है ?

ऊपर की बातो को पढ़कर कोई भी साधारण ज्ञानी अथवा शास्त्रज्ञाता विशेष ज्ञानी इस प्रकार की मान्यता को कभी दिगम्बर जैनधर्म की मान्यता नहीं कह सकता है। दिगम्बर जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र ये तीन ही तो मोक्ष-मार्ग हैं और उसके साधनभूत देव शास्त्र, गुरु ये तीन ही कारण है। इन तीनो के विषय मे कानजी स्वामी का मन्तव्य सर्वथा विपरीत है। मुझे आश्चर्य इस बात का होता है कि वे ऐसी अनाप-शनाप निराधार बातो के प्रचार का साहस कैसे करते है और उनकी बातो का क्या आधार है ? उन्हे शास्त्रो के सिद्धान्तों को समझे बिना शास्त्र-ज्ञानशून्य अविवेकी के समान चाहे जो बोलने का क्या अधिकार है ? यह तो समस्त आचार्यों के रचे हुए शास्त्रों पर पानी फेरना है। क्या यह दिगम्बर जैन बनने और बनाने का स्वरूप है ? शास्त्रकारों ने सच्चे देव की श्रद्धा और पूजा को सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का साधन बताया है यद्यपि सभी

देव-दर्शन या देव-पूजा करनेवालों को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता हो ऐसा नियम नहीं है, परंतु जो श्रावक-पद मे रहते हुए देव-श्रद्धा और देव-दर्शन नहीं करता है उसे सम्यग्दर्शन कभी नहीं हो सकता है। यह तो नियम है। यदि सम्यग्दर्शन किसी को भी कभी भी होगा तो सुदेव की श्रद्धा और उनके दर्शन से ही होगा। ऐसा अटल नियम है।

इसी प्रकार चारों अनुयोगो के स्वाध्याय से यथार्थ तत्वबोध एव सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होगी। पंचसमिति, पंचमहाव्रत धारण करनेवाले मुनि ही सम्यक् चरित्र के मूर्तिमान प्रतीक है। बिना वस्त्रादि का त्याग किये कोई मुनि नहीं हो सकता है। बिना वस्त्रादि त्याग किये और बिना महाव्रत धारण किये किसीको आत्मा मे स्थिरता अथवा आत्म बोध नहीं हो सकता है। बिना वस्त्रादि त्याग किये और बिना केश-लुचन किये कोई भी श्रावक मुनिधर्म धारण करने का अधिकारी नहीं है और न उसके स्वतत्र गुणस्थान हो सकता है।

जो देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान और उनकी भक्ति दिगम्बर जैनधर्म की मूल भित्ति है और मोक्ष का परंपरा कारण है उसे व्यवहार से भी धर्म नहीं बताना और संसार का कारण बताना दिगम्बर जैनधर्म का सर्वथा लोप करना है। शास्त्रो मे आस्तिक्य भाव सम्यक्त्व का कारण एव उसका बाह्य चिह्न है। जहां देव, शास्त्र, गुरु मे ही आस्तिक्य भाव नहीं है वहां आस्तिकता कैसे रह सकती है ? वह तो स्पष्ट मिथ्याभाव है।

अब शास्त्रो के प्रमाण पढिये

देव, शास्त्र, गुरु के संबंध मे शास्त्रों की क्या मान्यता है, उसका संक्षिप्त प्रमाण यहां दिया जाता है। भगवान् कुंद कुंद स्वामी

देव-पूजा और मुनि-दान के लिये क्या कहते हैं:—

दाण पूजा मुक्खो सावय धम्मेण सावया तेण विण
झाण झयणं मुक्ख जइ धम्मणतं विणा तहासोवि

रयणसार पृष्ठ १०, गाथा ११

अर्थ—सुपात्र मे चार प्रकार का दान देना और देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करना श्रावक-धर्म मे मुख्य धर्म है। उसके विना श्रावक नहीं कहा जासकता है। और ध्यान, स्वाध्याय करना मुनि का मुख्य धर्म है, उसके विना मुनिधर्म नहीं है।

यहां पर देव, शास्त्र, गुरु की पूजा को श्रावक का धर्म कुंदकुंद स्वामी बताते है। श्री कानजी स्वामी उसे धर्म नहीं बताते है। और भी पढिये:—

जिण पूजा मुणिदाण करेइ जो देइ सत्तिरूपेण
सम्मा इट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्ख मग्गरओ

—रयणसार पृष्ठ १२, गाथा १३

अर्थ—जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार जिन-पूजा और मुनि-दान करता है वह श्रावक सम्यग्दृष्टि और श्रावक-धर्म वाला है। वह श्रावक मोक्ष-मार्ग मे लगा हुआ है।

भगवान कुंद कुंद स्वामी ने एक ही गाथा में जिन-पूजा और मुनि-दान को मोक्ष-मार्ग बताया है और उसे करनेवाले को सम्यग्दृष्टि बताया है, परन्तु जिन-पूजा और दान देने को अधर्म और संसार-कारण कानजी स्वामी बताते हैं, क्या यह सर्वथा शास्त्र-विपरीत नहीं है? अवश्य है।

दिएणइ सुपत्त दाणं विसेस तो होई भोग सग्ग मही
णिव्वाण सुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि महि

—रयणसार पृष्ठ १५ गाथा १६

अर्थ—सुपात्र को (मुनिराज को) दान देनेवाला भोग-भूमि और स्वर्ग के सुख भोगकर क्रम से निर्वाण-सुख (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है एसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। अब पाठक सोचें कि स्वय आचार्य कुदकुद स्वामी दान का फल मोक्ष बताते हैं, उसे ससार-कारण बताना मिथ्या है।

आजकल के मुनियों को श्री कानजी स्वामी द्रव्यलिंगी मुनि कहते है, परंतु कुदकुद स्वामी क्या कहते हैं:—

सम्म विसोही तव गुण चारित्त सण्णाण दाण परिधीण
भरहे दुःसम काले मणुयाण जायदे णियद

—रयणसार पृष्ठ ३२, गाथा ३८

अर्थ इस दुःमह पंचम काल (कलिकाल) मे मनुष्यो के नियम-पूर्वक शुद्ध सम्यग्दर्शन, तप, व्रत अट्ठाईस मूल गुण, चारित्र सम्यग्ज्ञान और सम्यग् दान आदि सब होते हैं।

अष्ट पाहुड शास्त्र के रचयिता आचार्य कुंदकुद स्वामी जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति और उनके प्रति राग-भाव को संसार का नाश करनेवाला बताते है, देखिये प्रमाणः—

जिणवर चरणांबुरुहं णमति जे परम भत्तिरायेण
ते जम्म वेलि मूलं खणति वरभाव सत्थेण

—अष्टपाहुड पृष्ठ २७६, गाथा १५३

अर्थ-जो जिनेन्द्र भगवान के चरण-कमलों को परम भक्ति और राग से नमस्कार करते हैं वे मनुष्य उस भक्ति-राग के फल से जन्म-मरण रूपी वेलि को नष्ट कर देते हैं।

कानजी स्वामी भगवान् जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धा, भक्ति, अनुराग को अनत मिथ्यात्व और ससार-कारण बताते हैं परंतु आचार्य कुंदकुंद स्वामी उस भगवद्भक्ति के अनुराग (प्रशस्त राग) को ससार का नाश करनेवाला बताते है।

आचार्य कुंदकुद स्वामी षट्प्राभृत में कहते हैः—

देव गुरूणं भत्ता णिव्वेय परंपरा विचिंतंता
झाणरया सुचरिता ते गहिया मोक्ख मग्गम्मि
षट्प्राभृत पृष्ठ ३६२, गाथा ८२

अर्थ-जो देव, गुरु, शास्त्र मे भक्ति रखते हैं, वैराग्य-परपरा का चिंतवन करते है. ध्यान में लीन रहते है सम्यक् चारित्र को धारण करने है वे मोक्ष-मार्ग मे माने जाते है।

श्री कानजी तो कहते है कि पर पदार्थ से आत्मा का किसी प्रकार भी लाभ-अलाभ नहीं हो सकता है, किंतु आचार्य कहते हैः—

श्रीमद्भवन वासस्थाः स्वयभासुर मूर्तयः
वदिता नो विधेयासुः प्रतिमाः परमां गतिम्
—दशभक्त्यादि सग्रह पृष्ठ १६५,
श्लोक १६

अर्थ-भवन-वासियो के भवनो मे विराजमान, दैदीप्यमान मूर्तिवाली प्रतिमाओ को मै वंदना करता हू जिससे मुझे परमगति-मोक्षप्राप्ति-हो जाय।

इसी प्रकार जिनचैत्य, जिनचैत्यालयों, को आचार्यों ने वंदना करते हुए उसका फल मोक्ष प्राप्ति चाहा है आगे के श्लोकों मे जिनेन्द्र-स्तवन और वदना का फल संवर और निर्जरा आचार्य ने बताया है।

श्री कानजी तो कहते हैं कि शास्त्र भी पर है, उनसे आत्मा का कोई लाभ नहीं हो सकता है, परंतु सिद्धांत शास्त्रधवला के वृत्तिकार आचार्य वीरसेन कहते हैं:—

कर्मणामसंख्यात गुणश्रेणि निर्जरा केषां प्रत्यक्षेतिचेन्न

अवधिमनः पर्ययज्ञानिनां सूत्र मधीयानानां तत्प्रत्यक्षता

माः समुपलभात् धवला पृष्ठ ५५-५६

अर्थ—सूत्र का अध्ययन करने वालों की असंख्यात गुणित श्रेणिरूप से प्रति समय कर्म-निर्जरा होती है यह बात अवधि-ज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानियों को प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है।

श्री कानजी स्वामी तो कहते हैं कि जो देव, गुरु, शास्त्र में ही अटका है वह ससार-भ्रमण करता है, परंतु आचार्य चामुडराय कहते हैं—

अतः चैत्य चैत्यालयो गुरवो निषधास्थानादयश्च सम्यग्दृष्टीनां क्रियार्हा भवन्ति—चारित्रसार पृष्ठ ७०

अर्थ—जिन बिम्ब, जिनालय, गुरु, निषधास्थान (नशियां) ये सब सम्यग्दृष्टियों की क्रियाएं हैं। अर्थात् इनकी भक्ति-पूजा करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है। श्री कानजी इन सब की भक्ति को शुभराग कहकर सम्यग्दृष्टि की क्रिया नहीं मानते हैं।

श्री कानजी स्वामी सभी प्रकार के पुण्य को संसार का कारण ही बताते हैं, परंतु आचार्य देवसेन कहते हैः—

सम्माइट्ठी पुण्ण ण होइ ससारकारण णियमा
मोक्खस्स होइ्ट्ठ उ जदवि णियाण णसो कुणइ

—भावसंग्रह पृष्ठ २५८, श्लोक ४०४

अर्थ—सम्यग्दृष्टि का पुण्य ससार का नियम से कारण नहीं है, मोक्ष का ही कारण है। यदि उसमे निदान नहीं किया जाय। इसी श्लोक के आगे भावसंग्रहकार कई श्लोको मे यह बताते हैं कि सम्यग्दृष्टि का पुण्य क्रम से उत्तम कुल, चक्रवर्ती पद आदि प्राप्त कराता हुआ मोक्ष पहुचा देता है।

इसी प्रकार जिस पचमहाव्रत, सयम-समितिपालन आदि बाह्य क्रियात्मक चारित्र को धारण करनेवालो को कानजी स्वामी द्रव्यलिंगी बताते है और यहां तक कहते है कि महाव्रत को धारण करूं, ऐसा विचार करना भी मिथ्यात्व है।

वहां समस्त आचार्य स्वामी कुंदकुद प्रभृति व्रत, शील, संयम आदि चारित्र को मोक्ष का मूल कारण बताते हैः—

भावइ अणुव्वयाइ पालइ शीलच कुणइ उपवासं
पव्वे पव्वे णियम दिज्जइ अणवाय दाणाइ

—भावसग्रह पृष्ठ ३०८, श्लोक ४८७

अर्थ—विशेष पुण्य को उपार्जन करने के लिये अणु-व्रतों को पालन करना चाहिये, गुणव्रत, शिक्षाव्रत रूप-शीलो का पालन करना चाहिये, प्रत्येक, पर्व के दिन उपवास करना चाहिये और

निरंतर नियम से दान देना चाहिये। इसके आगे के श्लोको मे दान के भेद आदि बताते हुए इन व्रतादिकों का फल मोक्ष-लाभ बताते हैं।

जिन कुदकुद स्वामी के अपने को अनन्य उपासक बनने-वाले श्री कानजी स्वामी महाव्रत आदि क्रियाओ को शुभ भाव कहकर उन्हे संसार का कारण बताते है और उन क्रियाओं को पालनेवालो को द्रव्यलिंगी बताते हैं, उन्हीं महाव्रतादि क्रियाओं को भगवत्कुदकुंद स्वामी मोक्ष का कारण बताते है:—

पंच महव्वय जुत्तो तिहि गुत्तिहिजोइ सजदो होदि

णिग्गथ मोक्ख भग्गो सो होट्टिहु वदणिज्जोय

—अष्टपाहुड पृष्ठ ७१, गाथा २०

अर्थ–जो मुनि पंचमहाव्रतों को पालता हुआ तीन गुप्तियो को भी पालता है वह संयमवान है, वही निर्ग्रन्थस्वरूप मोक्ष-मार्ग में स्थित है, वह साधु वदनीय है।

कानजी स्वामी कहते है कि बाह्य पदार्थों के त्याग का विचार भी मिथ्यात्व है। त्याग का विकल्प (विचार) करना ही उनकी दृष्टि मे हेय और मिथ्यात्व है, परतु भगवत्कुदकद स्वामी आत्मा की अतरग विशुद्धि के लिये बाह्य त्याग को भी आवश्यक बताते है:—

भावविसुद्धि णिमित्तं बाहिर गंथस्स कीरए चाओ

बाहिर चाओ विहलो अंभंतर गंथ जुत्तस्स

—अष्टपाहुड पृष्ठ १६४, गाथा ३

अर्थ—आत्मा के अतरग भावो की विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रह का त्याग करना चाहिये। परतु यदि अंतरंग मे रागादि परिग्रह बना रहे तब बाह्य त्याग निष्फल ठहरता है। स्वामी कुंद-कुंद जो बाह्य त्याग को आत्म विशुद्धि का साधन बताते है परतु कानजी स्वामी बाह्य त्याग को मिथ्यात्व और द्रव्यलिंगी कहते है। दोनो के कथन में आकाश-पाताल का अंतर है।

कानजी स्वामी क्या यह बता सकते हैं कि जिन मुनियो के महाव्रत, पंचसमिति एव नग्नता आदि बाह्य त्याग है उनके अंत-रग मे भाव-विशुद्धि नहीं है? और क्या सभी मुनि ऐसे होते हैं फिर आप द्रव्यलिंगी उन्हे कैसे बताते हैं?

शास्त्रो मे यहां तक वर्णन है कि द्रव्यलिंगी मुनि के पढ़ाये हुए मुनि मोक्ष चले जाते है। यदि मोक्ष जानेवाले मुनि अपने उन द्रव्यलिंगी मुनि गुरु को भावलिंगी न माने या द्रव्यलिंगी समझते रहे तब तो वे उन से पढ़े भी नहीं और उनके वचनो का विश्वास भी नहीं करें। सभी शास्त्रकारो ने यही बताया है कि यदि मुनि के २८ मूलगुण बाह्य महाव्रत आदि ठीक ठीक पाले जाते है तो उन्हे भावलिंगी समझो और उनकी श्रद्धा-भक्ति भाव-लिंगी मानकर ही करो। क्योकि छद्मस्थ लोग भावो की पहचान बाह्य त्याग से ही करते है, अंतरग की पहचान अल्पज्ञानी कभी नहीं कर सकते हैं। फिर अपने प्रवचन मे कानजी स्वामी बाह्य त्याग को मिथ्यात्व कैसे कहते है? क्या यह समस्त मुनिधर्म का स्वरूप बदलना नहीं है और मुनिधर्म का सर्वथा लोप करना नहीं है क्या? मुनिमात्र के प्रति आपकी श्रद्धा-भक्ति नहीं है यह बात आपके प्रवचनो से स्पष्ट हो जाती है। देखिये बाह्य त्याग के विषय मे आचार्य देवसेन क्या कहते हैं—

वय णियम सीलजुत्ता णिहृय कसाया दया वट्टा जइणो
ण्हाण रहिआ विपुरिसा वंभचारी सया सुद्धा
—भावसंग्रह पृष्ठ २१, गाथा २५

अर्थ—जो मुनि व्रत, नियम, शील को पालते है, कषायों को छोड़ चुके हैं, जीवों की दया पालने मे तत्पर है, ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करते है, स्नान नहीं करते है, वे सदैव शुद्ध हैं।

प्रमाण कहां तक दिये जांय, सभी शास्त्र—मूलाचार, अष्टपाहुड, तत्वार्थसूत्र, राजवार्तिक, भगवती आराधना आदि सभी चरणानुयोग के ग्रन्थ प्रमाणभूत है।

आप तो यहां तक प्रवचन करते है कि एक मुनि को तेल डालकर जीवित जला दिया जाय और वह थोड़ा भी क्रोध नहीं करें तो भी उनके क्षमा नहीं मानी जासकती है, क्योकि क्षमा के शुभ भावो को वे अपना स्वरूप मानते हैं। हद होगई इस ऊटपटांग प्रवचन की। पूर्ण क्षमा को अपना स्वरूप नहीं मानें तो क्या उसे पर का भाव मानें ? फिर दश धर्मों मे उत्तम क्षमा एक प्रधान धर्म शास्त्रकारो ने क्यो बताया है ? आप तो उस पूर्ण क्षमा के शुभ भावों को संसार-कारण बताते हैं। आपका दिगम्बर जैनधर्म कोई निराला ही प्रतीत होता है।

आप तपश्चरण को संसार-कारण बताते हैं परंतु "तपसा निर्जराच" इस सूत्र द्वारा भगवन् उमास्वामी तप से संवर और निर्जरा बताते हैं जो मोक्ष के साक्षात् कारण हैं।

आप अपने प्रवचनों मे बार-बार शुभ भावों को और उनसे होनेवाले पुण्यबंध को संसार का कारण बताते हैं परंतु सभी शास्त्र

कार शुभ भावो से होनेवाले पुण्य को परंपरा मोक्ष का कारण बताते है, देखिये—

तेचाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठन्त्येव महर्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम्
अत्रागत्य पुनः कुलेति महति प्राप्य प्रकृष्टं शुभान्
मानुष्यच विरागतांच सकलत्यागंच मुक्तास्ततः

—पद्मनदि पंचविंशतिका
पृष्ठ २२८ श्लोक २४

इस श्लोक का सबध ऊपर के श्लोकों से है जो तीर्थयात्रा से, भगवान् के अभिषेक से, महोत्सवो से, भगवान् की पूजा से, ध्वजा चढ़ाने, कलश चढ़ाने, घंटा-चामर आदि समर्पण करने से जो महान् पुण्य उपार्जन करते है और जो अणुव्रत धारण करते है वे स्वर्ग जाते है, वहां महान ऋद्धि के धारक देव होते है फिर इस मनुष्य-लोक मे आते है, ऊचा कुल प्राप्त करते है और उस पुण्य-कर्म शुभकर्म के द्वारा उत्तम पुरुष होकर वैराग्य धारण करते हैं, फिर समस्त त्याग करके मोक्ष प्राप्त करते है।

यह है शुभ भावो और पुण्य-संचय का क्रम से उत्तरोत्तर होनेवाला परंपरा मोक्ष-फल।

ऐसा कथन अन्य सभी शास्त्रो मे है तो अब आपका प्रवचन सत्य माना जाय और ये समस्त शास्त्र महान् आचार्यो के बनाये हुए झूठे समझे जांय या आपके कथन को सर्वथा शास्त्रो से विपरीत और दिगम्बर धर्म से सर्वथा विरुद्ध माना जाय? इस बात का विचार आप और आपके शिष्यो को बहुत शान्ति और मनन के साथ करना आवश्यक है।

आप तो सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा-भक्ति को भी मिथ्यात्व बताते हैं, फिर मंदिरो की रचना और उनकी पूजा क्यों करते है ? क्या स्वय जानबूझकर मिथ्यादृष्टि कोई भी समझदार बनना चाहेगा ? नहीं। फिर जब देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा-भक्ति मिथ्यात्व है और वह शुभ राग होने से ससार का कारण है, तब कम-से कम आपको तो मिथ्यात्व और संसार का कारण नहीं करना चाहिये। फिर मंदिरो की रचना कराने का आपका क्या प्रयोजन है और क्यो गिरनारि तथा सम्मेदशिखर आदि तीर्थ-क्षेत्रो की आप वदना करते फिरते है ? इन परस्पर विरोधी बातों का क्या रहस्य है उसका स्पष्टीकरण आपको करना आवश्यक है। यदि इसके उत्तर मे आप यह कहे कि अशुभ भावो को दूर करने के लिये शुभ राग करते हैं तो आप तो परम पूज्य सद्गुरु है। आपके अशुभ राग कैसे कहा जाय ? फिर देव-पूजा और मदिर-निर्माण आप क्यो कराते है ?

आप देव-पूजा और देव-भक्ति को मिथ्यात्व बताते हैं परंतु पूज्यपाद आचार्य अकलक देव, आचार्य विद्यानंदि आदि सभी उसे सम्यक्त्व का कारण वताते है। देखिये—

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का साधन अतरंग वहिरंग दो प्रकार का बताया गया है। अतरग मे तो दर्शन,मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम, उपशम। और बाह्य साधनो मे अनेक हैं उनमे जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा का दर्शन और जिनेन्द्र भगवान् के समवसरण, पंचकल्याणक आदि जिन-महिमा का देखना भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का साधन बताया गया है। जिनबिम्ब आदि के देखने से निश्चय सम्यक्त्व बताया गया है क्योंकि दर्शन, मोहनीय कम के क्षय, क्षयोपशम आदि से होता है। बाह्य साधन बिम्बदर्शन आदि है। यथा—

साधन द्विविधं अभ्यंतर बाह्यञ्च। अभ्यंतरं दर्शन मोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा। बाह्यं—मनुष्याणामपितथैव। देवानां केषांचित् धर्मश्रवणं केषांचित् जिनमहिमदर्शनम्।

—सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ १२

यह लम्बा प्रकरण है। अर्थ ऊपर कहा जाचुका है। जबकि आप (कानजी स्वामी) पर पदार्थ का कोई असर आत्मा पर नहीं बताते है और जिनेन्द्र-भक्ति को मिथ्यात्व और संसार-कारण कहते है वहां पूज्यपाद आचार्य उस पर पदार्थ जिनेन्द्र बिम्ब के देखने और जिन-महिमा, जिनेन्द्रप्रभावना आदि देखने से सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। ऐसा स्पष्ट कहते है।

यही कारण है कि सम्यग्दर्शन के साधन सर्वत्र जुटाये जाते है। कृत्रिम रूप से और अकृत्रिम रूप से सर्वत्र साधन उपस्थित है जिनसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। देवों के विमानो मे, उनके भवनो मे सर्वत्र जिन-प्रतिमाएं है। नदीश्वर द्वीप मे महान् मनोहर पांच-सौ धनुष ऊची रत्नमयी प्रतिमाए है जहां महापर्व नदीश्वर पर्व मे देवगण उनकी पूजन-भक्ति करके सम्यक् दर्शन उत्पन्न कर लेते हैं या उसमे वृद्धि या दृढता कर लेते है। समवसरण मे भी प्रतिमाओं की रचना होती है। देखिये—

वर्षेषु वर्षांतर पर्वतेषु नदीश्वरे यानिच मंदरेषु
भावन्ति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वंदे जिन पुंगवानाम्

अवनिजल गतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां
वनभवन गतानां दिव्यवैमानिकानाम्
इह मनुजकृतानां देवराजार्चितानां
जिनवर निलयानां भवतोहं स्मरामि

इत्यादि बड़ा पाठ है। इसमे कृत्रिम अकृत्रिम चैत्य-चैत्यालयो की वंदना है। यह वंदना प्रतिदिन पूजन के समय

की जाती है। परंतु आपकी दृष्टि मे पर वस्तु कुछ नही कर सकती, तब यह वदना, पूजन आदि सब व्यर्थ ही समझना चाहिये। व्यर्थ ही नही किंतु मिथ्यात्व और संसार-कारण को बढ़ानेवाली समझना चाहिये।

तीर्थंकर प्रकृति का बध दर्शन-विशुद्धि आदि षोडश कारण भावनाओ से होता है जिसके उदय में प्रलय-काल के पीछे भरत क्षेत्र मे और ऐरावत क्षेत्र में पूर्णमोक्षमार्ग चालू होता है और सब जीवो का महान् कल्याण होता है। उन भावनाओं में विनय-सम्पन्नता, अनतिचार, शीलव्रत-पालन शक्तिपूर्ण त्याग, तप, वैयावृत्य, अर्हद्भक्ति, शास्त्र-भक्ति, आचार्य भक्ति, षड् आवश्यक आदि बाते भी है जिनकी भावना पाई जाती है। परतु आप तो उन सबको हेय बताते है। कहिये आपकी मान्यता शास्त्रों से सर्वथा विपरीत क्यो नहीं है? अवश्य है।

आप शुभ राग को संसार का कारण कहते है परतु शुभराग अबुद्धिपूर्वक तो दशवे गुणस्थान तक रहता है और बुद्धिपूर्वक शुभराग छठे गुणस्थान तक रहता है। छठे गुणस्थान से अत-मुहूर्त मे सातवां होता है। उसके सातिशय अप्रमत्त से उपशम श्रेणी और क्षयक श्रेणी का आरोहण होता है, जो केवल अंत-र्मुहूर्त मे केवलज्ञान उत्पन्न कर देता है। यदि वह शुभराग संसार का कारण हो तो फिर मुनिराज नीचे गिरे। किंतु वे मोक्ष को पालेते है। आचार्य गुणभद्र कहते है:—

अशुभाच्छुभमायातः शुद्धः स्यादय मागमात्
रवेरप्राप्त सध्याच तमसो न समुद्गमः

—आत्मानुशासन पृष्ठ १३१,
श्लोक १२२

अर्थ—यह जीव आगम के ज्ञान से अशुभ से छूटकर शुभ भाव को प्राप्त कर लेता है। और उसी शुभ भाव से शुद्ध अवस्था में पहुँच जाता है। अर्थात् शुभभाव शुद्ध भावों का कारण है।

मुझे इस बात का बहुत आश्चर्य हो रहा है कि जब श्री कानजी स्वामी शुभ क्रिया को देव शास्त्र-गुरु-भक्ति, तीर्थ-यात्रा आदि को—मिथ्यात्व और संसार-वर्धक स्वयं बता रहे हैं तब स्वय उनका भाव और प्रवृत्ति उन कामों में क्यों हो रही है। उनके परिणाम धर्म-विरोधी कार्यों में नहीं लगाना चाहिये विशेषकर जो मिथ्यात्व-वधक कार्य हैं।

आप कहते है कि—

"पच-महाव्रत के कारण चारित्र दशा नहीं है और चारित्र के कारण वस्त्रत्याग नहीं है।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ४३

"मैंने वस्त्रों का त्याग किया अथवा मेरा विकल्प निमित्त हुआ इसलिये वस्त्र छूट गये, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है।"

"यदि पंचमहाव्रत का विकल्परूप (विचार) निमित्त करूं तो चारित्र प्रगट हो। इसी प्रकार व्यवहार दर्शन व्यवहार-ज्ञान, व्यवहार-चारित्र के परिणाम करूं तो उससे निश्चय दर्शन ज्ञान चारित्र प्रगट हो यह मानना भी मिथ्यात्व है।"

वस्तुविज्ञान-सार, पृष्ठ ४३

इस श्री कानजी स्वामी के कथन से वस्त्रों का त्यागकर नग्न दिगम्बर बनना और वस्त्रों का मैं त्याग करूं यह विचार भी लाना मिथ्यात्व है। उनका कहना है कि जब आत्मा में अपने-आप (वस्त्र-त्याग और त्याग की भावना से नहीं) चारित्र-

दशा होगी तब वस्त्र स्वयं अपने-आप छूट जायेंगे। कानजी स्वामी का कितना विचित्र सिद्धान्त है।

अपने-आप तो धोती ५ वर्ष के बालक की भी छूट जाती है और अत्यन्त वयोवृद्ध की अशक्ति से भी छूट जाती है तो क्या वह चारित्र है ? फिर धोती भले ही अपने-आप छूट सकती है, परंतु कुरता, अंगरखा आदि स्वयं अपने-आप कैसे छूट जायेंगे ? यह लोकोत्तर प्रवचन समस्त दिगम्बर जैनाचार्यों से विपरीत केवल कानजी स्वामी के अनुभवगोचर की वस्तु है।

यदि वस्त्र स्वय भी छूट जाय ऐसा भी मान लिया जाय तो क्या वह चारित्र कहा जायगा ? जब तक बुद्धिपूर्वक वस्त्रों का त्याग स्वयं नहीं किया जाय और, मै वस्त्र, कुटुम्ब, धन, महल आदि सब परिग्रह को आज से सवथा, मन, वचन, काय-से-छोड़ता हू, मै उन सबो का त्याग करता हूं, ऐसी प्रतिज्ञा नहीं की जाय तो क्या कभी किसीको चारित्र (पूर्ण सयम) हो सकता है ? "मै पांचो पापो को छोड़ता हू" यह भाव और त्याग जब तक बुद्धिपूर्वक नहीं किया जायगा तब तक कोई जीव कभी निष्परिग्रह और निर्मोही नहीं बन सकता है। यदि बुद्धिपूर्वक त्याग आवश्यक नहीं हो तो फिर भरत चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसे महान् पुरुष जंगल मे क्यो गये और उन्होने वस्त्राभूषणों का त्याग कर नग्नता क्यों धारण की, केशलोच क्यों किया, घर मे ही अपने निर्विकल्प भावो से केवलज्ञान और मोक्ष-प्राप्त क्यों नहीं कर सके ? फिर मुनिधर्म एव मोक्ष प्राप्ति के लिये अतरंग की विशुद्धि के साथ नग्नता एवं बाह्य पदार्थो का त्याग शास्त्रकारों ने क्यों आवश्यक बताया है ? परंतु कानजी स्वामी की विचित्र

फिलॉसफी और आधुनिक विचित्र विज्ञान से तो मुनि-धर्म, अणुव्रत, महाव्रत, देव-शास्त्र-गुरु-पूजन आदि सब धर्ममार्ग सर्वथा लुप्त ही हो जायगा। क्या इसी प्रकार के विचारो के प्रचार से दिगम्बर जैनधर्म सुरक्षित रह सकेगा और उसीसे समाज व देश का हित हो सकेगा? फिर ज्ञानाद्वैतवाद मे और इस प्रकार के विचार मे भेद ही क्या रहेगा? ज्ञानाद्वैतवादी मिथ्या एकांती यह मानते है कि बाह्य क्रियाओ मे कोई धर्म नहीं है, केवल आत्मा मे ज्ञान हो जाय उसीसे मोक्ष हो जाता है। ठीक यही मत श्री कानजी स्वामी का है।

शास्त्रकारो ने तो यहां तक बताया है कि जिस कुल मे वश-परपरा से मदिरा, मांस, मधु, पच-उदुम्बर फलो का भक्षण नहीं है तो भी प्रत्येक व्यक्ति को स्वय बुद्धिपूर्वक उन पदार्थों का त्याग करना पडता है और अष्ट मूलगुण ग्रहण करने पडते है। उनका भक्षण भले ही मत हो परतु त्याग किये विना दोष लगता है, शुद्धता नहीं आती है। यदि त्याग करना आवश्यक नहीं हो तो कोई भी पुरुष बिना नग्न हुए और पंच-महाव्रत धारण किये कभी भी मोक्ष जा सकता है क्या? भले ही सभी मुनि मोक्ष नहीं जाते उनमे अतरग या वहिरंग पात्रता नहीं होगी परंतु यह तो नियम है कि किसी भी पुरुष को मोक्षप्राप्ति होगी तो नग्न दिगम्बर और पच-महाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति आदि व्रतो और तपश्चरण करने से ही होगी यह अटल नियम है।

पच-महाव्रत एवं बाह्य तपश्चरण आदि के विकल्प को कानजी स्वामी तो मिथ्यात्व कहते है, परंतु कुदकुंद स्वामी इन क्रियाओ को शुद्धोपयोग बताते है। देखिये—

सुविदिदपदत्थजुत्तो संजम तव संजुदो विगद रागो
समणो समसुहदुक्खो भिणदो सुद्धोव ओगोत्ति

—मूलाचार पृष्ठ १४८, गाथा ६४

अर्थ - जिसने पदार्थों को भली भांति जान लिया है, इन्द्रिय-विषयो को जो छोड़कर एव छह काय के जीवों की रक्षा कर जो संयम धारण करता है और जो बाह्य अभ्यंतर तपों मे लीन है जो राग-द्वेष छोड़ चुका है, जो दुःख-सुख मे समता-भाव रखता है, वह मुनि शुद्धोपयोग वाला कहा जाता है। इसमे इन्द्रिय-विषयो का त्याग और जीवो की रक्षा तथा बाह्य तपश्चरण भी शुद्धोपयोग मे ग्रहण किया गया है। इन शास्त्रविहित सिद्धांत को समझने और तदनुसार ही प्रवचन करनेवाला दिगम्बर जैन है।

महान उद्भट आचार्य गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि के रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैं.—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती ही जाण चारित्त
वदसमिदि गुत्ति रुववहारणयादु जिणभणिय

—द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५

अर्थ—पांच पाप व्यसन सेवन आदि अशुद्ध क्रियाओ से निवृत्ति तथा देव-पूजन, व्रताचरण आदि धार्मिक कार्यों मे प्रवृत्ति करना यह चारित्र है और यह व्यवहार चारित्र पंच-महाव्रत, पचसमिति त्रिगुप्ति स्वरूप है।

इसके आगे निश्चय चारित्र का स्वरूप भी उक्त आचार्य बताते है। सुनियेः—

बहिरभतर किरिया रोहो भव-कारण प्पणासट्टं
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्म चारित्तं
—द्रव्यसंग्रह, गाथा ४६

अर्थात्—बाह्य क्रिया और आभ्यतर क्रिया को रोक देना ही निश्चय चारित्र है। यह निश्चय चारित्र सम्यग्ज्ञानी के होता है। उसका फल ससार को नष्ट करना है। ऐसा तो जिनेन्द्र भगवान् के कथनानुसार आचार्य कहते है, परंतु कानजी भाई त्यागरूप चारित्र के विकल्प को मिथ्यात्व कहते है।

जिस प्रकार समस्त शास्त्रो से विपरीत प्रवचन कानजी स्वामी करते है वैसा विवेचन तो किसी भी दिगम्बर जैन का आज तक मैने नहीं सुना है। ये तो प्रत्यक्षसिद्ध अनुभव का भी लोप करते है। जो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, विद्वान्, मूर्ख सभी इस अतरग भावना को रखते हुए कि—

"एक वार वदे जो कोई, ताहि नरक पशुगति नहिं होई।"

जो अनादि काल मे अनतानत सामान्य केवली और तीर्थकर केवलियो को अपने अचल पर बिठाकर मोक्ष पहुँचा चुका है, जिसका एक-एक कण उन मोक्षगामी ध्यानस्थ मुनिराजो के चरण-रज से परम पावन बन चुका है, उस परम-वदनीय सम्मेदशिखर गिरिराज की भावपूर्ण एव मन, वचन, काय से एक बार वदना करने से नरक-पशुगति छूट जाती है। इन भावो को लेकर जो वंदना करते है उनकी आत्मा मे विशुद्धि और असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा अवश्य होती है।

परतु उस सम्मेदशिखर पर्वत-वंदना के शुभराग और उस वदना की बाह्य प्रवृत्ति को संसार कारण और मिथ्यात्व

माननेवाले अपने उन विपरीत भावों से जब उस पहाड की वदना करने जा रहे हैं तब उनकी आत्मा में कार्यों की असंख्यात गुणी निर्जरा के स्थान मे मिथ्यात्व कर्म का तीव्र बंध ही होगा, क्योंकि "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" जिसके जैसे भाव होते हैं तदनुसार ही उस फल मिलता है। जो जिनेन्द्र प्रतिमा को या पहाड को केवल पत्थर ही मानता है उनमे उसकी देवत्व एवं पूज्यत्व बुद्धि नहीं है, और उन पर पदार्थों से आत्मा का कुछ भी हित होना नहीं मानता है उसकी उस पत्थर-बुद्धि मे देव-पूजा और पर्वत-वदना का उत्तम फल मिल ही नहीं सकता है। फल तो भावना एव सम्यक्त्व परिणामो से उत्तम होता है। जो जिनेन्द्र-प्रतिमा को पाषाण की होने पर भी या पहाड को जड़ एव पर पदार्थ होने पर भी उनको देवता मानकर दृढ व्यवहार सम्यक्त्व परिणामो से उनकी श्रद्धापूर्वक भक्ति पूजा करता है वही निश्चय सम्यक्त्व एवं आत्म-विशुद्धि प्राप्त करने का अधिकारपात्र बन सकता है।

एकांगज्ञानी धरषेणाचार्य, भूतवलि पुष्पदत, कुंदकुंद, वीरसेन, जिनसेन, समतभद्र, मानतुग, वादिराज, सोमदेव, देवनंदि, पद्मनंदि, अकलकदेव, विद्यानंदि पूज्यपाद आदि समस्त दिगम्बर जैनाचार्यों ने देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा-भक्ति को मोक्ष का कारण बताया है और स्वय उनकी श्रद्धा भक्ति की गंगा अनेक स्तोत्रो द्वारा प्रवाहित की है। इतना ही नहीं किन्तु सामायिक एव ध्यान मे देव, शास्त्र गुरु का चिंतवन उन्होंने बताया है। ऐसे ही भावों से भेद विज्ञान एवं निर्विकल्पक सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है, और उस सराग चारित्र से वीतराग चारित्र भी हो सकता है।

परंतु जहां देव, शास्त्र, गुरु को परपदार्थ मानकर उनसे आत्महित की सभावना सर्वथा नहीं मानी जाती है और उनकी श्रद्धा भक्ति को मिथ्यात्व एवं संसार-कारण माना जाता है। वहा भेद-विज्ञान-रूप सम्यक्त्व एवं वीतराग तो क्या सराग चारित्र की भी प्राप्ति असंभव है। देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा-भक्ति को गणधरदेव ने मोक्ष का कारण बताया है, देखिये दशभक्ति को। शास्त्रकारो ने यहा तक बताया है कि समवसरण मे विराजमान साक्षात् तीर्थंकरों से जितना आत्मा का सच्चा कल्याण होता है उससे अनंत गुणा कल्याण उन तीर्थंकरों की प्रतिमा से होता है। यही कारण है कि भेदज्ञान एव निश्चय सम्यक्त्वधारी एव कपडो का त्यागकर अंतर्मुहूर्त मे केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले महाविशुद्ध परिणामो के धारक भगवान भरत चक्रवर्ती अपने प्रासादो (महलो) के दरवाजो के ऊपरी भाग मे जिनेन्द्र-प्रतिमा रखते थे जिससे आते जाते समय प्रतिसमय उनकी वदना एवं भक्ति सदैव वृद्धिगत होती रहे। कहिये कितनी महान् विशुद्ध आत्मा का ज्वलन्त उदाहरण है। इसमे अधिक देव, शास्त्र, गुरु-भक्ति के विषय में लिखना अनावश्यक है। केवल एक वाक्य लिखना ही पर्याप्त है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र, इस रत्न, त्रय प्राप्ति के लिये देव,शास्त्र, गुरु यह श्रद्धाभक्ति पूर्ण रत्न-त्रयी प्रधान एव मूल कारण है।

भगवत्कुदकुद स्वामी की विशुद्ध भावना ही उन्हे निमित्त द्वारा साक्षात सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ विदेहक्षेत्र मे ले गई थी। यही असाधारणता उक्त आचार्य की महान् महत्ता की सूचक है। परन्तु यहां प्रश्न यह उठता है कि कुंदकुद स्वामी तो कम-से-कम कानजी भाई की दृष्टि मे सच्चे भेद ज्ञानी,

सम्यग्दृष्टि एवं वीतराग भावलिंगी साधु होंगे। उन्होंने पर वस्तु-सीमंधर स्वामी के दर्शनों की भावना एवं उनके परम पावन दर्शनों से अपना आत्म-लाभ क्यों सोचा, और उस बाह्य क्रिया मे सम्यक्त्व माना या मिथ्यात्व ? यदि उनकी क्रिया और सीमंधर स्वामी के दर्शन करने के विकल्प को कानजी स्वामी धार्मिक क्रिया और सम्यक्त्व का चिह्न समझते है तब तो उन्हें अपने आगम-विपरीत मन्तव्यों का तुरत छोड देना चाहिये। यदि वे कुंदकुंद स्वामी की विदेह-क्षेत्र मे जाने और सीमंधर स्वामी के दर्शन करने रूप बाह्य क्रिया को केवल जड शरीर की क्रिया समझते है और सीमंधर स्वामी के दर्शन करने की भावना रूप विकल्प को कुंदकुंद स्वामी का मिथ्यात्व समझते है तो फिर वे कुंदकुंद स्वामी को अपना गुरु क्यों मानते है ? उनकी दृष्टि मे तो पीछी-कमंडलधारी नग्न मुनि कुंदकुंद भी द्रव्यलिंगी ही ठहरते है। जो भी वे समझे। यदि कानजी स्वामी भगवत्कुंदकुंद स्वामी को अपना गुरु मानते है तब तो उन्हें अपने मनगढंत कल्पित मिथ्यामन्तव्यों को छोडकर आचार्य कुंदकुंद प्रभृति आचार्यों के बताये हुए सिद्धान्त एव उसी सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। अन्यथा इतना शास्त्रीय लक्ष्य दिलाने पर भी वे अपने उन्हीं मन्तव्यो के प्रचार मे लगे रहे तो वे त्यागीगण और विद्वत्समाज की दृष्टि मे दिगम्बर जैन नहीं किंतु दिगम्बर जैनाभास ही समझे जायंगे। वे क्षमा करे, उनके शास्त्रविरुद्ध मन्तव्यो का प्रचार देखकर इतना लिखने के लिये मुझे सखेद बाध्य होना पड़ा है।

ससार भ्रमण कर्मो से नही होता, आत्मा स्वय करता है
विकारी भाव कर्मो से नही होते है
श्री कानजी स्वामी का शास्त्र-विपरीत चौथा मन्तव्य

श्री कानजी स्वामी अपने प्रत्येक प्रवचन में यह स्पष्ट कहते हैं कि आत्मा स्वय अपनी योग्यता से नरक, स्वर्ग आदि गतियो मे जाता है, ससार-भ्रमण आत्मा स्वय करता है, कर्मो के कारण संसार-भ्रमण नही होता है। कर्म जड हैं, वे चेतन आत्मा का बिगाड-बनाव कुछ नही कर सकते हैं ।

उनका कथन इस प्रकार है—

"शुभ-अशुभ भाव जड कर्मों से नही होते हैं किन्तु तू अपने उलटे भावो से उन्हे उत्पन्न करता है।" आ० ध० पृष्ठ ३६, अक ३, वर्ष १

"जो शुभ-अशुभ भाव होता है वह कोई कर्म या शरीर नही करवाता है, किन्तु वह केवल अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होता है।"
आ० ध० पृष्ठ ३८, अक ३, वर्ष २

"यो माननेवाले जीव अज्ञानी हैं कि अपने भवितव्य में मुक्ति हो तो पुरुषार्थ जागे और कर्म की शक्ति कम हो तो आत्मा मे पुरुषार्थ जागृत हो एव कर्मोदय के अनुसार पुरुषार्थ होता है। उन्हे अज्ञानी कहने का कारण यह है कि वे मानते हैं कि आत्मा का पुरुषार्थ और मक्ति जडकर्माधीन हैं। वे कर्मवादी हैं और चूकि कर्म जड है इसलिये वे भी जडवादी हैं। वे आत्म-स्वभाववादी नहीं हैं और न जैन हैं।" आ० ध० पृष्ठ ३६, अक ३, वर्ष १

"कर्म की तो आत्मा में त्रिकाल नास्ति है, परतु आत्मा की क्षणिक विकारी मान्यता है कि पर से मुझे लाभ होते हैं, और कर्म मुझे भव-

भ्रमण कराते हैं यह मान्यता ही जन्म-मरण का कारण है । इस उलटी मान्यता से ही आत्मा रुलता फिरता है कर्म ने नही रुलाया ।"

आ० ध० पृष्ठ ८७, अक ६, वर्ष १

" जन्म-मरण का कारण पर तत्व कदापि नही है, जन्म-मरण का कारण तो क्षणिक पर्याय में भ्रान्ति होती है ।"

आ० ध० पृष्ठ ८७, अक ६, वर्ष १

" बेचारे पुद्गल तो भाव का कुछ नही बिगाडते किंतु जीव ही स्वय रागादि द्वारा अवरुद्ध होता है, तब पुद्गल मात्र उपस्थित रहता है ।" आ० ध० पृष्ठ ६८, अक ७, वर्ष १

" आत्मा त्रिकाल शुद्ध, निर्दोष, वीतराग स्वरूप है यो न मान कर उसे शरीरादि अथवा राग-द्वेषयुक्त मानना यही वास्तविक पराधीनता है ।" आ० ध० पृष्ठ १०१, अक ७

" आत्मा जड का कुछ नही कर सकता है और जड आत्मा का कुछ नही कर सकता है । जीव अपनी अवस्था को स्वय स्वतत्र रूप मे करता है । अनादि काल से जीव की ससार-अवस्था है, ससार-अवस्था को जड नही कराता है । कम भी जड है जड कर्म आत्मा का ससार में नही रोकते किंतु आत्मा स्वय अपने गुणो की विपरीतता के कारण ससार मे रुका हुआ है ।" आ० ध० पृष्ठ १२६, अक ८ वष १

" विपरीत भाव ही ससार है । कर्म ससार में चक्कर नही खिलाते, आत्मा के सुख दुख का कारण आत्मा के उस समय के भाव हैं । कर्म अथवा कर्म का फल सुख-दुख का कारण नही है ।"

आत्मा के ऊपर कर्म की बिलकुल सत्ता न होने पर भी भ्रम से मिथ्या कल्पना से जीव अपने ऊपर कर्म की सत्ता को मान बैठा है ।"

"मिथ्यात्व-रूपी मदिरा पीकर अज्ञानी आत्मा जड की कर्म-रूप अवस्था को जानकर अपने ऊपर कर्म की सत्ता को मान बैठा है और यह मान रहा है कि कर्म मुझे परेशान करते हैं किंतु वास्तव मे उसे कर्मों ने नही दबा रक्खा है किंतु वह भ्रम से ऐसा मान रहा है।"

"इसी प्रकार जड और चेतन कर्म और आत्मा दोनो स्वतन्त्र हैं किसी पर भी एक दूसरे की सत्ता नही है प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है किसी भी आत्मा को कर्म हैरान नही कर सकते हैं।"

आ० ध० पृष्ठ १३६, अंक ६, वर्ष १

"शास्त्रों मे निमित्त की मुख्यता बताने के लिये भले ही यह लिखा है कि मोहनीय कर्म को लेकर आत्मा मे मिथ्यात्व होता है परतु वास्तव में ऐसा नही है। मोहनीय कर्म तो जड अचेतन है, वह आत्मा की अवस्था में कुछ भी नही कर सकता है।"

आ० ध० पृष्ठ १६१ अंक १०, वर्ष २

"जो यह मानता है कि पर वस्तु से आत्मा में विकार होता है वह मिथ्यादृष्टि है। और मिथ्यादृष्टि राग को कम करे तो भी वह धर्मात्मा नही है।" आ० ध० पृष्ठ १६३, अंक १०, वर्ष २

प्रश्न—निश्चय से तो कर्म आत्मा को विकार नही कराते परतु व्यवहार मे कर्म आत्मा को विकार कराते हैं न? जैसा कर्म का जोर होता है वैसा आत्मा में विकार होता है। यह व्यवहार से तो है न?

उत्तर—"निश्चय से अथवा व्यवहार से किसी भी तरह से एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नही कर सकती। कर्म किसी अपेक्षा से आत्मा का कुछ कर ही नही सकते।" आ० ध० पृष्ठ १६४, अंक १०, वर्ष २

"शास्त्र में जहा कर्म आत्मा को विकार कराता है, ऐसा लिखा होता है वहा समझना चाहिये कि वह कथन मात्र है परतु व्यवहार में भी कर्म ने आत्मा को कुछ कराया नही है। मात्र विकार के समय

उनकी उपस्थिति होती है। जिस समय आत्मा विकार करता है उस समय कर्म की हाजिरी होती है, यह बताने के लिये व्यवहार से कथन मात्र है। फिर भी जो व्यवहार की भाषा के शब्दानुसार वस्तु का स्वरूप मानलें तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। उसे वस्तु के सच्चे स्वरूप की खबर नही है।" आ० ध० पृष्ठ १६५, अक १०, वर्ष २

कर्मों के सबध मे कानजी स्वामी के मन्तव्यो का सप्रमाण खडन

'कर्म आत्मा का कुछ नही कर सकते' यह कहना शास्त्रो से सर्वथा विपरीत है

(कानजी स्वामी सांख्यमत की पुष्टि करते हैं)

ऊपर की पंक्तियों को पाठक ध्यान से पढ़े। पाठकों की जानकारी के लिये थोड़े-से उद्धरण दिये गये है। स्वामीजी के प्रत्येक प्रवचन में यही बात पुष्ट की गई है। वे कर्मों के द्वारा आत्मा मे किसी प्रकार का विकार नहीं बताते हैं। वे तो यहां तक स्पष्ट रूप से कहते है कि "जो व्यवहार से भी कर्मों से आत्मा-में विकार मानता है या कर्मों के कारण व्यवहार से भी संसार भ्रमण बताता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसे वस्तुतत्व की कुछ भी खबर नहीं है।"

उनके इस मन्तव्य से धवल, जयधवल, महाधवल—खुद्दा-बंध, महाबंध आदि सिद्धान्त-ग्रन्थ भी सब झूठा विवेचन करने-वाले, ठहरते हैं। गोमट्टसार, कर्मकाण्ड, जीवकाण्ड, तत्वार्थसूत्र,

सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिकालंकार, श्लोकवार्तिक, समयसार आदि समस्त दिगम्बर जैनग्रन्थो मे जो कर्मबन्ध और उन कार्यों की सत्त, उदय उदीरणा आदि बताई गई हैं वे सब मिथ्या ठहरते हैं और कर्मों के उदय से नरकादि गति, संसार-भ्रमण आदि बतानेवाले समस्त दिगम्बर जैनाचार्य स्वामीजी के मन्तव्य और उनके प्रवचन के अनुसार मिथ्यादृष्टि सिद्ध होते है।

सभी शास्त्रों मे दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय कर्मों के उदय से आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्र गुणो का घात बताया गया है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि पांचो सम्यज्ञान मतिज्ञानावरणी, श्रुतज्ञानावरणी आदि कर्मों से आच्छादित होते है और उनके क्षयोपशम तथा क्षय से मतिज्ञानादि चार ज्ञान तथा केवलज्ञान प्रगट होता है। इसी प्रकार सर्वघाति स्पर्धक, देशघाति स्पर्धक कर्मों के उदय मे आत्मा के गुणों का सर्वघात और देशघात होता है। मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से आत्मा मे मिथ्यात्वभाव होता है और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से कषाय-रूप विकार आत्मा मे होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से देश-चारित्र नहीं हो पाता है, प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से सकल चारित्र नहीं हो पाता है। सज्वला के उदय से यथास्थान चारित्र नहीं हो पाता है। ये सब कर्मों के उदय से होनेवाले कार्य है। आत्मा के गुण इन्हीं कर्मों ने एक देश एव सर्व देश में घात रक्खे हैं। ये सब कथन शास्त्रों मे गणधरदेव, द्वादशांगवेत्ता तथा एकांगज्ञाता, धरसेणाचार्य, भूतबलि, पुष्पदन्त ने सिद्धांत-शास्त्रो मे लिखे हैं वे सब झूठे ठहरते है। इसी प्रकार कुदकुंद स्वामी, पूज्यपाद अकलंक देव, विघानंदि, जिनसेनाचार्य, नेमिचद्र, सिद्धान्तचक्रवर्ती अमृतचद्र सूरि, योगींद्रदेव आदि-आदि समस्त दिगम्बर जैनाचार्य कर्मों से विकार और संसार-भ्रमण बतानेवाले मिथ्यादृष्टि

ठहरते हैं । अब पाठक स्वयं समझ लेवें कि मिथ्यादृष्टि कौन हैं ? शास्त्रों के रचनेवाले समस्त दिगम्बराचार्य या उन्हें मिथ्यादृष्टि बतानेवाले ?

स्वामीजी तो यहां तक कह रहे हैं कि कर्म जड़ हैं, वे आत्मा में कोई विकार कर सकते हैं ऐसा व्यवहार नय से भी नहीं कहा जा सकता है। यह बात ऊपर की पंक्तियों मे उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखी हैं। हद हो गई इस नई सूझ और समझदारी की। भोले लोग आगम को भूल रहे हैं और स्वामीजी के निराधार एव प्रमाण-युक्तिशून्य कल्पनात्मक मन्तव्यो के चक्र मे फस रहे हैं, यह भी समय की विचित्रता है।

कर्मों के उदय से ही आत्मा विकारी होता है और उसीसे चतुर्गतियो मे घूमता फिरता है। बिना कर्मोदय के शरीर-संबंध एवं शरीर मे होनेवाले रूप, रस, गंध, वर्ण भी नहीं हो सकते हैं। एकेंद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक इंद्रियो की प्राप्ति और उनके द्वारा देखने की शक्ति भी वीर्यान्तराय और भिन्न-भिन्न इंद्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से ही होती है। पुण्य-पाप का संबंध और उनका फल भी कर्मों के उदय से ही होता है। ये बातें शास्त्रो के ज्ञाताओं से तो पूर्ण रूप से अवगत है किंतु सर्व-साधारण भी भवितव्य को एवं सांसारिक सुख-दुःख को कर्मजनित फल ही समझते हैं। वैसा ही सबो को पूर्ण श्रद्धान है। फिर भी कतिपय प्रमाणों द्वारा यहां पर कर्मबंध एवं आत्मा पर उसका कितना प्रभाव है, यह बात लिखी जाती है—

णमो अरिहंताणं-केवलज्ञानाद्य शेषात्मगुणाविर्भाव प्रतिबंधन प्रत्यय समर्थत्वाच्च तस्यारेर्हननात् दरिहंता—धवला पृष्ठ ४३।४४

अर्थात् केवलज्ञानादि समस्त आत्म-गुणों के आविर्भाव के रोकने में समर्थ कारण होने से भी मोह प्रधान शत्रु है और उस शत्रु के नाश करने से 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है।

इस सिद्धांत-शास्त्र से यह सिद्ध होता है कि मोहनीय आदि कर्म आत्मा के गुणो को रोक देते हैं, उन्हे वे प्रगट नहीं होने देते हैं, धवला आदि सिद्धांत शास्त्र मे कर्मों के द्वारा आत्म-गुणों के रोकने की सामर्थ्य है। यह कथन अनेक स्थलो पर आया है परंतु एक प्रमाण ही पर्याप्त है।

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति
पुग्गल कम्मणिमित्तं तदेव जीवोऽपि परिणमदि

—समयसार, गाथा ८६

अर्थ–जीव के भावो के कारण से पुद्गल कर्म-रूप परिणमन करता है तथा पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी परिणमन करता है अर्थात् जीव मे विकार-भाव कर्मों के उदय से आते है।

भगवान कुंदकुंद स्वामी स्पष्ट कहते हैं कि कर्म और आत्मा दोनों ही परस्पर एक दूसरे के परिणमन मे निमित्त है। और भी देखिये—

जह बंधे मुत्तणय बंधणबद्धोदु पावदि विमोक्खं
तह बंधे मुत्तूणय जीवो संपावदि विमोक्खं

—समयसार, गाथा ३२०

अर्थात् जैसे कोई पुरुष बंधन से बंधा हुआ हो तो वह उस बंधन को तोड़कर बंधन से रहित स्वतंत्र बन जाता है, उसी प्रकार जीव भी अपने वीतराग निर्विकल्प भावों से कर्म-बंधन को तोड़कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जब कुंदकंद स्वामी समयसार मे ही कर्म-बंधन के दूर करने में वीतराग भाव को कारण बताते हैं और जीव के परिणामों से कर्मबंध बताते है। वे कर्म को जीव के भावो का कर्त्ता या जीव को कर्म का कर्त्ता नहीं बताते हैं किंतु कर्म-पर्याय के होने में जीव के विकारी भावों को निमित्त कहते है और जीव के भावो की उत्पत्ति मे कर्म को निमित्त-कारण बताते हैं।

स्वामीजी बार-बार कहते हैं कि कर्म आत्मा का कुछ नहीं करता, आत्मा स्वय अपने विकारी भावो का कर्त्ता है। यह कहना ऊपर के प्रमाणों से सवथा वाधित हो जाता है।

स्वामीजी संस्कृत पढे होते तो वे कर्त्ता के रहस्य को समझ लेते। संस्कृत-प्राकृत के पढे विना वे विवक्षा के शास्त्रीय मर्म को भी नहीं समझे हैं, इसीलिये कर्त्ता केवल उपादान को मान बैठे है। कर्त्ता विवक्षा से माना जाता है, जैसे चावल पक रहे है यहां पर स्वय चावल अपनी पाक-क्रिया के कर्त्ता हैं परंतु रसोई बनानेवाला चावलो को पका रहा है यहां पर रसोई बनानेवाला भी चावलो के पाक का कर्त्ता है। परंतु वह निमित्त रूप से कर्त्ता है, चावलों की पाक-क्रिया का उपादान रूप से स्वय चावल कर्त्ता है। इस विवक्षा को स्वामीजी नहीं समझते हैं इसीलिये 'वे कर्म आत्मा का कुछ नहीं कर सकता है, आत्मा कर्म का कुछ नहीं कर सकता है,' ऐसी बातें विवक्षा की अज्ञानकारी से कहते हैं। घट का उपादान कर्त्ता स्वय मिट्टी है, वह घट-रूप स्वय बन जाती है किंतु निमित्त कर्त्ता कुम्हार भी है, उसके हाथों के मिट्टी पर घुमाने से मिट्टी मे शिवक, स्थास, कोस, कुशूल, कपाल, घट ये उत्तरोत्तर आकार बनते है। बिना कुम्हार के हाथों के घुमाये घड़ा तीन काल में कभी नही बन सकता है परंतु वह मिट्टीरूप स्वयं नहीं बन जाता है, इसीलिये

वह निमित्त कर्त्ता है। इसी बात को आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने कहा है। देखिये—

पुग्गल कम्मादीणंकत्ता ववहारदोदु णिच्चय दो
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं
—द्रव्यसंग्रह

अर्थात् व्यवहार से जीव ज्ञानावरणादि का कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चय नय से अपने रागद्वेषादिभावों का कर्त्ता है। तथा शुद्ध निश्चय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है। कर्त्ता विवक्षाधीन है। कानजी स्वामी तो व्यवहार से भी कर्मों को कर्त्ता नहीं मानते है। कुंदकुंद स्वामी रयणसार में क्या कहते है—

उपसमई सम्मत्तं मिच्छत्त वलेण पेल्लए तस्स
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणि कालदोसेण
—रयणसार पृष्ठ ११६, गाथा १५२

अर्थ—मिथ्यात्व कर्म का तीव्रोदय उपशम सम्यक्त्व को पिचल देता है, अर्थात् नष्ट कर देता है। और कषायो की वृद्धि होती है। यह अवसर्पिणी काल का दोष है कि उपशम सम्यक्त्व मिथ्यात्व कर्म की तीव्र प्रबलता से नहीं हो पाता है।

जब स्वयं समयसारकार कुंदकुंद स्वामी कर्मों के तीव्रोदय से आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात होना बताते है तब स्वामीजी का यहा तक कहना कि जो कोई जड़ कर्मों से आत्मा के गुणों का आवरण मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, सो अब वे बतावे कौन मिथ्यादृष्टि ठहरता है! पञ्चास्तिकाय समयसार में कुंदकुंद स्वामी क्या कहते हैं?

तह्मा कम्मं कत्ता भावेणहिं संजुदोथ जीवस्स
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदग़ भावेण कम्मफलं
एवं कत्ता भोत्ता होज्भं अघा सगेहिं कम्मेहिं
हिंडदि पारमपारं संसारं मोह संच्छरणो

पंचास्तिकाय समयसार, पृष्ठ ५५-५६, गाथा ६८-६६

अर्थ—जीव के राग द्वेष रूप विकारी भावों से संयुक्त कर्म-कर्त्ता है और जीव अपने विभाव-भावो से कर्म-फल को भोक्ता है। इस प्रकार आत्मा अपने ज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा कर्त्ता भोक्ता बनता हुआ मोह से व्याकुल होकर अपार पार वाले संसार मे घूमता फिरता है।

यहा पर इतना मर्म समझ लेना चाहिये कि उपादान रूप से जीव अपने भावों का कर्त्ता है और कर्म अपने भावों का कर्त्ता है, परतु जीव के राग-द्वेष रूप विकारी भावो के उत्पन्न करने में कर्मों का उदय निमित्त कर्त्ता है और कर्मों के बधन एवं फलोदय मे विकारी भाववाला जीव निमित्त कर्त्ता है। इन्हीं दोना के कारण अनादि संसार मे जीव घूमता है।

प्रवचनसार मे कुंदकुंद स्वामी कहते हैं:—

कम्मंणाम समक्खं सभावमथ अघणो सहावेण
अभिभूयणरं तिरियं णेरयियं वा सुरं कुणदि

—प्रवचनसार, पृष्ठ १६५, गाथा २५

अर्थ—नाम कर्म अपने गति परिणमन कराने रूप स्वभाव से आत्मा के शुद्ध भावों को आच्छादित कर और उस जीव को मनुष्य तिर्यञ्च नारकी अथवा . पर्याय में ले जाता है।

कानजी स्वामी कहते है कि आत्मा स्वयं नरकादि गतियों में जाता है उस आत्मा को उन गतियों मे ले जाने मे कर्म कुछ नहीं कर सकता है परंतु भगवान कुंदकुंद स्वामी कर्म के द्वारा ही नरकादि गतियो मे जीव का भ्रमण बता रहे हैं। अब कौन-से स्वामी का कहना सत्य है, भगवान कुंदकुंद स्वामी का या कानजी स्वामी का ! इसे पाठक समझ लेवें गुणस्थान चौदह होते हैं, उनसे जीवों के भावो की पहचान सर्वज्ञ देव ने बताई है। वे गुणस्थान आत्मा के भाव है परंतु कर्मों के द्वारा ही होते है। कर्मों के विना गुणस्थान हो ही नहीं सकते हैं। गोम्मतसार में नेमिचद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कहते हैं:—

जेहिं दुलक्खिजंते उदयादिसु संभवेहिं भावें हिं
जीवा ते गुण सण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं
—गोम्मटसार जीवकाण्ड पृष्ठ ४, गाथा ८

अर्थ—दर्शन-मोहनीय, चारित्र-मोहनीय कर्म-प्रकृतियो के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से जो जीवों के भाव बनते हैं उन भावों से सहित जीव उन उन गुणस्थानवाले कहे जाते हैं। यदि मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव का भाव मिथ्यात्व परिणाम वाला बन जाता है तो उस जीव को मिथ्यात्व गुणस्थानवाला मिथ्यादृष्टि जीव कहा जाता है। इसी प्रकार सभी कर्मों के उदय आदि की अपेक्षा से गुणस्थान कहे जाते है-ऐसा सर्वज्ञ देव ने बताया है।

अब कानजी स्वामी बतावें कि ये चौदह गुणस्थान जीवो के भाव हैं या नहीं ? और वे वास्तव में है और निश्चय-नय से हैं। यदि निश्चयनय से नहीं हो तो फिर मोहनीय कर्म के क्षय से होनेवाला जीव का क्षायिक भाव जो सिद्ध

पर्याय में भी रहता है मिथ्या ठहर जायगा। इसलिये ये भाव निश्चयनय मे यथार्थ हैं और ये भाव कर्मों के निमित्त से बनते हैं।

फिर कानजी स्वामी का यह बार-बार कहना कि कर्म जड़ है, वह आत्मा का कुछ नहीं कर सकता है, सर्वथा शास्त्र-विपरीत और निराधार स्वयं की कल्पना से है।

सासादन गुणस्थान का स्वरूप बताते हुए आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती कहते हैः—

आदिम समत्तद्धा समपादो छावलित्ति वा सेसे
अण अण्णद उदयादो णासिय सम्मत्त सासणक्खोसो
—गोम्मटसार जीवखण्ड, गाथा १६

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का काल एक समय से लेकर छह आवलि तक अवशिष्ट रहने पर अनंतानुबंधी कषाय की कोई भी प्रकृति का उदय होने से सम्यग्दर्शन का नाश होजाता है, उसीका नाम सासादन है।

यहां पर द्रव्यकर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का नाश बताया गया है। इसी प्रकार प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणाओ कर्मोदय का उदय आदि कारण है।

जीव-समाज के ६८ भेदो मे एकेंद्रिय जीव से लेकर संज्ञी पचेंद्रिय तक जीव की अवस्थाए और उन अवस्थाओं में होनेवाले भाव सब कर्मजनित हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय, कर्मों को कारणभूत नहीं माना जाय तो फिर एकेंद्रिय, द्वीद्रिय आदि जीवों के अवस्था-भेद किस कारण से होते हैं?

यदि आत्मा के स्वयं होते हैं तो सिद्धों के भी वैसे अवस्था-भेद क्यो नहीं होते है।

श्री कानजी स्वामी कहते है कि कर्म जड होने से जीव का कुछ भी नही कर सकता है, परंतु गोम्मटसारकार कहते हैं:—

आवरण मोह विग्धं थादी जीव गुण घादणत्तादो

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ६

अर्थ–ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय में चार घातिया कर्म कहे जाते हैं क्योकि इनसे जीव के गुणों का घात हो जाता है। कितना स्पष्ट कथन है । अब पाठक विचार करें कि इन महान् आचार्यों एवं महाशास्त्रों के कथन को प्रमाण एव सत्य माना जाय या कानजी स्वामी के निरर्गल निर्मूल वक्तव्य को ठीक कहा जाय ? दोनों परस्पर विपरीत है।

कर्मो की जीव-विपाकी प्रकृतियो का सीधा प्रभाव जीव पर ही पडता है। अधिक प्रमाणो से लेख वढ़ेगा इसलिये अब इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

यहां पर एक शास्त्रों के मर्म की बात बता देना आवश्यक है, वह यह है कि आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्यों मे एक वैभाविकी शक्ति (गुण) है । उस गुण के कारण आत्मा मे विभाव परिणमन होने की योग्यता है । जब कर्मोदय का निमित्त मिल जाता है तब आत्मा अपने उस गुण के कारण विभाव परिणमन करता है। इसलिये उपादान और निमित्त दोनों के योग से जीव कर्म दोनो का बंध हो जाता है। यदि आत्मा और पुद्गल में वैभाविकी शक्ति नहीं होती तो आकाश, काल, धर्म, अधर्म इन चार द्रव्यों के समान जीव पुद्गल भी शुद्ध बने रहते। इस रहस्य को कानजी स्वामी को समझना चाहिये।

निमित्त नही मिले तो कार्य नही होगा यह मान्यता मिथ्या है

निमित्त उपादान के सम्बन्ध मे कानजी स्वामी का पाँचवाँ मन्तव्य

१. प्रश्न—"निमित्त न मिले तो कार्य नहीं होता, यह मान्यता मिथ्या है।" तत्सम्बन्धी पुत्र का दृष्टान्त।

उत्तर— 'किसीके पुत्र होना था किन्तु विषय-रूप निमित्त नही मिला। इसलिए नही हुआ' यह बात मिथ्या है। यदि पुत्र होना ही है तो जिस समय होना हो उस समय होता ही है, और उस समय स्वयं विषयादि निमित्त होते हैं। पुत्र अर्थात् एक आत्मा और अनन्त रजकण आना तो हैं, किन्तु पति-पत्नी ब्रह्मचर्य पालन कर रहे हैं इसलिये पुत्र के होने का निमित्त नही मिलता, इसलिए वे आते हुए रुक गए हैं—यह मान्यता मिथ्या है। पुत्र होना ही न था अर्थात उप-जीव और अनन्त रजकणो की क्षेत्रान्तर-रूप अवस्था की योग्यता ही वहाँ नही आनी थी इसलिए वे नही आये।

"पुत्र होने की योग्यता तो थी किन्तु निमित्त नही मिला इसलिये नही हुआ, और जब निमित्त मिल गया तब हुआ—इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि निमित्त ने कार्य किया, यह दो द्रव्यो की एकत्व-बुद्धि ही है। अथवा माता-पिता ने निमित्त का मार्ग ग्रहण नही किया, इसीलिये पुत्र नही हुआ, यह बात भी मिथ्या है।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ४१, प्रश्न न. ६

२. प्रश्न—"पेट्रोल समाप्त हो गया इसलिये मोटर रुक गई, यह बात सच नही है।

उत्तर—"जिस क्षत्र में जिस समय रुकने की योग्यता थी उमी क्षेत्र में और उमी समय मोटर रुकी है, और पेट्रोल के परमाणु भी अपनी योग्यता से अलग हुए हैं। यह बात सच नही है कि पेट्रोल समाप्त हो गया इसलिए मोटर रुक गई है।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ४५, प्रश्न १५

३. प्रश्न—"वाणी अपने-आप (परमाणुओं से) बोली जाती है, और जीव उसका कर्त्ता नही है।

उत्तर—"बोलने का विकल्प-राग हुआ इसलिये वाणी बोली गई, ऐसा नही है, और वाणी बोली जानेवाली थी इसीलिये विकल्प हुआ, ऐसा भी नही है। यदि राग के कारण वाणी बोली जाती हो तो राग कर्त्ता और वाणी उसका कर्म कहलायेगा।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ४५, प्रश्न १६

४ प्रश्न—"सूर्य का उदय हुआ इसलिये छाया से धूप होगई, यह बात मिथ्या है।"

उत्तर—'छाया से धूप होने की परमाणु की अवस्था में जिस समय योग्यता होती है उसी समय धूप होती है, और उस समय सूर्य इत्यादि निमित्त-रूप में हैं। किन्तु यह बात मिथ्या है कि सूर्य इत्यादि का निमित्त मिला इसलिये छाया से धूप हो गई।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ४४, प्रश्न १३

५. प्रश्न—"लकडी अपने-आप ऊंची उठती है, हाथ के निमित्त से नही।"

उत्तर—''यह लकडी है, इसमें ऊपर उठने की योग्यता है, किन्तु जब मेरा हाथ उसे स्पर्श करता है तब वह उठती है अर्थात् जब

मेरा हाथ उसके लिए निमित्त होता है तब वह उठती है। ऐसा माननेवाले जीव वस्तु की पर्याय को स्वतन्त्र नही मानते अर्थात् उनकी सयोगी दृष्टि है, वे वस्तु के स्वभाव को ही नही मानते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं। जब लकडी ऊपर नहीं उठती तब उसमें ऊपर उठने की योग्यता ही नही है, और जब उसमें योग्यता होती है तब वह स्वय ऊपर उठती है, वह हाथ के निमित्त से ऊपर नहीं उठती।" वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ५२, प्रश्न २६

६. प्रश्न—"सिद्ध भगवान् अलोक में क्यो नही जाते ?

उत्तर—"सिद्ध भगवान् अपनी क्षेत्रान्तर की योग्यता से जब एक समय में लोकाग्र में गमन करते हैं तब धर्मास्तिकाय को निमित्त कहा जाता है, परन्तु कही धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण उनका अलोक में गमन नही होता ऐसी बात नही।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ५४, प्रश्न ३०

७. प्रश्न—यदि सूर्योदय न हो तब तो कमल नही खिलेगा ?

उत्तर—'कमल में विकसित होने की योग्यता हो और सूर्य में उदित होने की योग्यता न हो, ऐसा कभी हो ही नही सकता। तथापि सूर्य के निमित्त से कमल नही खिलता, और कमल खिलता है इसलिए सूर्य उदय होता है–ऐसा भी नही है।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ६१, प्रश्न ४०

८. प्रश्न—"कर्म के उदय के कारण जीव को विकार नही होता।

उत्तर—"जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्त-रूप होता है, किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनो मिलकर विकार नही करते। कर्मोदय के कारण विकार नही होता, और विकार किया इसलिए कर्म उदय में आये, ऐसा भी नही है।"

विस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ६४, प्रश्न ४८

९. प्रश्न—मिट्टी में घडा-रूप पर्याय होने की योग्यता सदा की नही है, किन्तु एक समय की ही है।

उत्तर—"मिट्टी से घडा बनता है, सो वह उसकी वर्त्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से ही बना है, वह कुम्हार के कारण से नही बना। कोई यह कहे कि मिट्टी में घडा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान है, किन्तु जब कुम्हार आया तब घडा बना; तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है। मिट्टी में घडा-रूप होने की योग्यता सदा नही है किन्तु वर्तमान एक ही समय की पर्याय की वह योग्यता है, और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है उस समय ही घडा होता है।" वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ३८, प्रश्न ४

१०. प्रश्न—"गुरु के कारण श्रद्धा नही होती।"

उत्तर—"ऐसा नही है कि जीव ने श्रद्धा की इसलिये गुरु को आना पडा, और ऐसा भी नही है कि गुरु आये इसलिये उनके कारण से श्रद्धा हुई है, दोनो अपने कारण से हैं। यदि ऐसा माने कि गुरु आये इसलिये श्रद्धा हुई तो गुरु कर्त्ता और शिष्य को श्रद्धा हुई इसलिये वह उनका कार्य हुआ।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ३९, प्रश्न ५

११. प्रश्न—"शास्त्र से ज्ञान नही होता।

उत्तर—"शास्त्र के सम्मुख आजाने से ज्ञान होगया हो सो बात नही है, किन्तु उस समय अपनी योग्यता है, उस क्षण जीव अपनी शक्ति से ज्ञान करता है और तब शास्त्र निमित्त के रूप में विद्यमान है। ज्ञान होना हो इसलिये शास्त्र को आना ही पडता है, ऐसी बात नही है, और ऐसी भी नही है कि शास्त्र आया इसलिये ज्ञान हुआ है।"

वस्तुविज्ञानसार पृष्ठ ३९, प्रश्न ६

उपादान निमित्त के विषय मे खुलासा
श्री कानजी स्वामी का सप्रमाण खंडन

उपादान निमित्त के सम्बन्ध मे श्री कानजी स्वामी का निजी मन्तव्य है, वह सर्व-विदित है, उनके अनेक मन्तव्यों से सब लोग क्या अनेक विद्वान् भी परिचित नहीं है, कारण सभी लोग उनके साहित्य को पढ़ते नहीं हैं और पढ़ना भी नहीं चाहते हैं। उनका आत्मधर्म पत्र मेरे पास भी 'जैन दर्शन' के बदले मे आता है परंतु मै उसे एक दृष्टि डालकर उठाकर रख देता हूँ। बार बार उन्हीं बातों की उसमे पुष्टि रहती है जो आगम से सर्वथा विरुद्ध हैं और जो सबो के प्रत्यक्ष तथा अनुभव से भी विरुद्ध हैं। ऐसी दशा मे उस पत्र के पढने में समय देना भी व्यर्थ है। परंतु कानजी भाई उपादान निमित्त के विषय मे जो कहते है उससे तो प्रायः सभी लोग जानकार हैं। वे यह मानते है और कहते हैं कि उपादान ही स्वयं अपनी योग्यता से सब-कुछ करता है, उसके कार्य मे कोई भी निमित्त कुछ नहीं कर सकता हैं। वे यह बेतुकी बात (युक्ति-अनुभव से शून्य) भी बड़े जोर से कहते हैं कि जब उपादान के द्वारा कोई भी कार्य होना होता है तब निमित्त वहाँ आकर उपस्थित हो जाता है परंतु वह निमित्त उपादान के कार्य मे किसी प्रकार की कोई भी सहायता नहीं कर सकता है। इसके लिये वे पचासों दृष्टान्त देते हैं। उनके दृष्टान्तो से उनका पत्र आत्म-धर्म, भरा पड़ा है और "वस्तुविज्ञानसार" नाम की पुस्तक भी भरी पड़ी है पाठक उन्हे देखते ही होंगे या अब देख लेवे।

कानजी भाई कहते है कि मिट्टी से घड़ा बनना होगा तब कुम्हार, चाक आदि को वहाँ उपस्थित होना ही होगा, परंतु घड़ा बनाने में कुम्हार, चाक आदि कुछ भी सहायता नही देते

हैं, वे केवल वहां उपस्थित मात्र रहते हैं। घड़ा तो मिट्टी की स्वयं की योग्यता से ही बन जाता है। आटे से रोटी बननी होगी तो आटा ही अपनी योग्यता से रोटी बन जायगा, उसमें चूल्हा, लकड़ी, रसोई बनानेवाला आदि कोई कुछ नहीं करते है। रोटी बनाने में उन रसोइया, चूल्हा, लकड़ी की कोई सहायता नही है, केवल आटे की अपनी योग्यता से रोटी बनी है। पाठकों की जानकारी के लिये कुछ दृष्टान्तो पर मैं विचार करूंगा, किंतु उनके सभी दृष्टान्तो और विवेचन पर विचार करने से यह ट्रैक्ट बहुत बढ़ जायगा; इसलिये सबो को छोड़कर उपादान निमित्त के विषय मे आगम क्या कहता है और लोक-प्रत्यक्ष क्या है यह बात ही संक्षेप मे बता देना पर्याप्त है। अन्यथा उपादान निमित्त के सबंध मे तो कहां तक लिखा जाय ! जितने भी कार्य हैं वे सब उपादान और निमित्त दोनों की योग्यता और सहायता से ही सिद्ध होते है। अनंत पदार्थों के अनंत कार्य अनंत निमित्तो की सहायता से ही होते हैं। बिना निमित्तों की सहायता के कोई भी कार्य उपादान अकेला नहीं कर सकता है, और बिना उपादान की योग्यता के केवल अकेला निमित्त भी कुछ नहीं कर सकता है। दोनो का परस्पर कार्य-कारण सबंध ही कार्य-सिद्धि मे बीज है।

इस विषय मे पहले मूल सिद्धांत बता देना आवश्यक है। वह इस प्रकार है:—

उपादान उसे कहा जाता है कि जो स्वयं कार्य-रूप परिणत हो जाय।

निमित्त उसे कहा जाता है कि जो स्वयं कार्य-रूप परिणत नहीं हो किंतु अपनी क्रिया या अपने अस्तित्व से उपादान से होनेवाले कार्य मे सहायता देवे।

निमित्त कारण अनेक कार्यों मे एक भी सहायक बन जाता है और एक कार्य में अनेक निमित्त भी सहायक हो जाते हैं। जहां जैसे कार्य होते हैं वहां वैसे निमित्त जुटाने पड़ते हैं। निमित्त स्वय आकर उपस्थित नहीं होता है किन्तु कार्य की सिद्धि के लिये उसे जुटाना पड़ता है, लाना पड़ता है, उसकी खोज करनी पड़ती है, उसके पास जाना पड़ता है।

निमित्त के अनेक भेद हैं:—

उदासीन निमित्त, प्रेरक निमित्त, समर्थ निमित्त, असमर्थ निमित्त आदि।

'उदासीन निमित्त' उसे कहते हैं जो उपादान से होनेवाले कार्य मे उदासीन रूप से सहायक हो, धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, काल अवकाश ये चार द्रव्य निष्क्रिय हैं, अतः ये जीव पुद्गल की सहायता उदासीन रूप से करते हैं। जीवपुद्गल लोकान्त तक—सूक्ष्म वात-वलय तक गमन करते हैं परन्तु लोक के बाहर अलोकाकाश मे दोनो नहीं जा सकते हैं, कारण वहां गमन मे सहायता देनेवाला धर्म-द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार बाकी के तीन द्रव्य भी उदासीन निमित्त हैं, परन्तु कार्य उनकी सहायता के विना नहीं चल सकता है। जब जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है फिर लोक से बाहर ऊपर सिद्ध जीव क्यों नहीं जाता, इसका समाधान तत्वार्थ-सूत्रकार ने दिया है कि "धर्मास्तिकायाभावात्" लोक से बाहर अलोक में धर्म-द्रव्य नहीं है, इसलिये जीव विना निमित्त की सहायता के आगे नहीं जा सकता है।

दृष्टान्त—रेलगाड़ी की पटरी है। विना पटरी के रेल-गाड़ी चलने में सर्वथा असमर्थ है। इसलिये रेलगाड़ी के चलने में सहायक निमित्त पटरी है, परन्तु ड्रायवर के द्वारा जब भी रेलगाड़ी चलती है तब पटरी सहायता तो करती है, परन्तु उसे चलाने की प्रेरणा नहीं करती है।

प्रेरक निमित्त कार्य में प्रेरणा करता हुआ सहायता देता है। जैसे कोई आदमी दूसरे आदमी को कुएं मे ढकेल देता है तो ढकेलनेवाला प्रेरक निमित्त है । इसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरे के शिर मे डंडा देकर शिर फोड़ देता है तो वह प्रेरक निमित्त है । कोली कपड़े को बुनता है, इस कार्य मे तंतु (डोरे) उनका ताना-बाना ये उपादान है, परन्तु कोली ताना-बाना बनाकर तुरी-वीमा आदि साधनो द्वारा मशीन को चलाता है तब कपड़ा बनता है, इसलिये कोली प्रेरक निमित्त है। ऐसे अनेक दृष्टान्त है ।

समर्थ निमित्त उसे कहते है जो उपादान को नियम से कार्य-रूप परिणत करादे । जैसे तैल, बत्ती, सरावा, दियासलाई और दीपक जलानेवाला पुरुष तैयार है साथ ही दीपक को बुझाने-वाली वायु भी नहीं है तब दीपक अवश्य जल जायगा क्योंकि प्रतिकूल सामग्री वायु का अभाव है और अनुकूल पूर्ण सामग्री उपस्थित है तब दीपक अवश्य जल जाता है।

असमर्थ निमित्त उसे कहते है जिसकी सामग्री पूर्ण नहीं हो या विरोधी कारण हटाये नहीं गये हों। कार्य को जो तैयार नहीं करा सके वह असमर्थ कारण है, जैसे साधारण बादल आते हैं परतु पानी नहीं बरस पाता है, वे फिर छिन्न-भिन्न हो जाते है। और जहां घटा-रूप मे विशेष बादल आजाते है और पूर्व की वायु चलती है तब पानी बरसा कर ही वे हटते है। यह समर्थ निमित्त है ।

यहा मुख्य बात यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु की क्रिया स्वयं वस्तु मे होती है । एक द्रव्य के गुण दूसर द्रव्य-रूप कभी नहीं परिणमते है । इसलिये उपादान स्वयं अपने कार्य का कर्त्ता होता है । यह ठीक बात है। परंतु जो

निमित्त उस कार्य में प्रेरणा कर सहायता पहुंचाता है वह कोई उस कार्य-रूप स्वय परिणत नहीं होता है और न उसके गुण उपादान के कार्य में जाते हैं। किंतु अपनी क्रिया द्वारा निमित्त कारण उपादान की क्रिया में सहायता (बाहरी) अवश्य करता है। जैसे घड़ा तो मिट्टी से बनता है, उपदान-दृष्टि से घड़ा का कर्त्ता स्वय मिट्टी है क्योकि घडा उसीका कार्य है परंतु चाक पर रखकर जब कुम्हार अपने हाथों से चाक को डंडे से घुमाकर मिट्टी पर हाथ फेरता है तब मिट्टी कभी गोल, कभी लबी-ऊंची, कभी थाली के समान एव अत मे घडे-रूप बन जाती है। इसमे कुम्हार के हाथों की क्रिया कुम्हार में है। मिट्टी की क्रिया मिट्टी मे है। एक दूसरे मे कोई गुण भी परिवर्तित नहीं हुए हैं, फिर कुम्हार अपने हाथों की क्रिया से मिट्टी की घट-रूप पर्याय बनने मे प्रेरक निमित्त-रूप बन जाता है, इसलिये कुम्हार को निमित्त-रूप कर्त्ता कहने मे कोई बाधा नहीं है, वस्तु-स्वरूप मे कोई अतर नहीं आता है। कानजी स्वामी संस्कृत ग्रन्थ एवं न्यायशास्त्र कुछ पढ़े होते तो उपादान निमित्त के कार्य-कारण भाव को समझ लेते। वे 'कर्त्ता' शब्द का प्रयोग केवल उपादान के स्वस्वरूप मे ग्रहण करते है परंतु वहां निमित्त-रूप पर भी कर्त्ता होता है इसमे कोई दोष नहीं आता है। घड़े के लिये गधे पर मिट्टी आती है इसलिये गधा भी परपरा घट का कर्त्ता है इसमें कोई दोष नहीं है। दोष तो तब होता जबकि कुम्हार और गधे के गुण या क्रिया घट मे पहुच जाती, केवल कर्त्ता शब्द के चक्र मे पडकर कानजी स्वामी देव, गुरु, शास्त्र आदि सभी निमित्त कारणों को अकिञ्चितकर (कुछ भी नहीं करनेवाला) बता रहे है। उनकी दृष्टि मे तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि भी समवसरण मे बैठे हुए जीवों को कोई लाभ नहीं पहुचाती

है। उन्हे कर्त्ता शब्द का भ्रम निकाल देना चाहिये। सर्प को देखकर बालक भयभीत होकर भागता है, तो क्या सर्प ने अपना भय उसे दे दिया है ? नहीं, किंतु सर्प के निमित्त से आत्मा में बैठा हुआ भय जागृत हो जाता है। इसीका नाम निमित्त का साहाय्य है।

निमित्त के विषय मे एक–दो द्रष्टान्त

निमित्त उपादान के विषय में एक-दो दृष्टान्त और देकर मै इस प्रकरण को समाप्त कर देता हूं:—

रस्सी मे बांधकर कुएं मे घड़ा फांसा गया और ऊपर खीच लिया गया। घड़े में जो कुएं के भीतर से पानी आया है उसमे फांसनेवाला पुरुष और रस्सी निमित्त हुए है या नहीं ? या कानजी स्वामी के मन्तव्यानुसार घड़ा स्वय कुएं मे उतर गया या कुए का पानी ऊपर आकर घड़े मे स्वय भर गया ? यदि निमित्त नहीं माना जाय तो वह प्रत्यक्ष का लोप नहीं होगा क्या ?

बिजली एक सेकेंड मे लाखों मील दौड जाती है और एक ही सेकेंड मे हजारो मील पर लगे हुए लटटुओ (बल्बो) को जला देती (प्रकाशयुक्त कर देती) है, तो क्या वे सभी लट्टू स्वयं अपनी योग्यता से जल जाते है अथवा बिजली का इजिन, ड्रायवर, तार आदि उसमे निमित्त कारण पड़ते हैं ? यदि इंजिन, ड्रायवर, तार आदि निमित्त नहीं हैं तो फिर लाखों रुपये के इंजिन क्यों खरीदकर लगाये जाते हैं और ड्रायवरो को हजारों का वेतन क्यों दिया जाता है ? सड़कों पर तार क्यों लगाये जाते है ? ये सब प्रत्यक्ष बातें झूठी हैं क्या ? यदि

झूंठी हैं तो कौन-सा दिगम्बर जैनशास्त्र ऐसा बताता है सो बताना चाहिये। या कौन-सा युक्तिवाद ऐसा है सो बताना चाहिये।

अनुभव की बात सुनिये—किसी व्यक्ति को जब जोर से मल-मूत्र की बाधा लगती है–इतनी जोर से लगती है कि उसे वह रोकने मे असमर्थ-सा बन जाता है, तब भी वह व्यक्ति यदि सभा, सोसाइटी मे बैठा हो या किसी जज के सामने अपनी साक्षी (गवाही) दे रहा हो तो १०।१५ मिनट उस मल-मूत्र की बाधा को अपनी इच्छा के द्वारा रोकता है। अन्यथा यदि कठिनता से नहीं रोके तो उसी स्थान पर उसकी धोती मल-मूत्र से बिगड़ जाय। अब बताइये कि रोकने की इच्छा उस व्यक्ति मे हुई है या मल-मूत्र मे स्वय रुक जाने की इच्छा हुई है? जड़ पदार्थ मे तो रोकने की इच्छा हो नहीं सकती। इच्छा तो जीव की विभाव-पर्याय है। तब मल-मूत्र के रोकने मे वह व्यक्ति निमित्त है या नहीं?

एक व्यक्ति इत्र लगाकर किसी गोष्ठी मे आता है तो बैठे हुए सभी मनुष्य उस इत्र की सुगंधि का अनुभव करते हैं। यदि उस सुगंधि का निमित्त कारण इत्र और इत्र लगानेवाले व्यक्ति को नहीं माना जाय तो वह सुगंधि पहले क्यों नहीं आई?

यदि कोई व्यक्ति अपच से अपान वायु (पाद) छोड़ता है तो पासवालो को तुरंत दुर्गंध का अनुभव होता है। तो क्या वह दुर्गंध उनकी नाको मे स्वयं अपनी योग्यता से आजाती है? यदि आजाती है तो वायुसरण के पहले क्यो नहीं आई? ये सब बाते प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाली हैं।

यदि दीपक, सूर्य का प्रकाश या बिजली की बैटरी होती है तो तुरंत उनके द्वारा पदार्थ जान लिया जाता है या उसे ग्रहण कर लिया जाता है। यदि प्रकाश नहीं हो तो उस अंधेरी रात्रि मे किसी नेत्रवान मनुष्य को वस्तु नहीं दीखती है और न ग्रहण की जा सकती है। तो क्या उस जानकारी या पदार्थ के ग्रहण मे सूर्य का प्रकाश, दीपक या बैटरी आदि पदार्थ निमित्त साधन नहीं है ? क्या दिगम्बर जैनधर्म इन प्रत्यक्ष पदार्थों का लोप करता है ?

किसान बार-बार खेत को जोतकर धरती को उर्वरा (उपजाऊ) बनाता है, खात डालता है, मेघों से पानी बरसता है, और धान्यो की रखवाली करता है, फिर काटकर धान्यो को घर लाता है, तभी अनाज को घर लाता है। या ये सब निमित्त झूठे है अनाज स्वय उपजकर स्वय घर मे आजाता है ? निमित्त कारणो की बाहरी सहायता के विना अकेला उपादान कभी कुछ नहीं कर सकता है।

दृष्टांत कहां तक दिये जायं ? जगत् मे जितने भी अनत पदार्थ है उन सबो के लिये पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और पर भाव निमित्त कारण पडते ही है। उनमे कोई समर्थ निमित्त, कोई उदासीन निमित्त पड़ते है। विना निमित्त कारण के कोई निश्चय पर्याय भी किसी द्रव्य मे नहीं होती है। सिद्ध भगवान् भी जो स्वय निश्चय एवं शुद्ध पर्याय स्वरूप है विना निमित्त के परिणमन नहीं करते है। उनका परिणमन स्वयं उनकी आत्मा मे एवं उनके अनंत गुणों मे प्रतिक्षण होता रहता है। अन्यथा विना परिणमन के उत्पादव्यय ध्रौव्य नहीं होगे और उनके विना सिद्ध भगवान् असत् (अभाव) रूप ठहरेंगे।

सिद्धों के परिणमन मे काल-द्रव्य निमित्त है, और जो अनंत द्रव्य अपनी भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान पर्यायें बदलते हैं उनके निमित्त से उन सभी पर्यायों को जाननेवाला सिद्धों का ज्ञान भी बदलता रहता है। वह केवलज्ञान भी भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान रूप मे प्रतिक्षण उन भिन्न-भिन्न द्रव्यों की पर्यायों को बदलते हुए रूप में ही विषय करता है। यह ज्ञाप्य-ज्ञापक या ज्ञेयज्ञापक संबंध भी पर निमित्त से सदैव चला आता है। वस्तु-स्वरूप को कहां हटाया जा सकता है? इसलिये "सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" इस परीक्षा-मुख के सूत्रानुसार प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषरूप उभयात्मक है और उस उभय-रूप वस्तु को ग्रहण करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है। इस वस्तु-स्वरूप को जो नहीं मानता वह दिगम्बर जैन तत्वों के स्वरूप को नहीं समझता है।

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए इतना लिखना आवश्यक है कि श्री कानजी स्वामी जो आत्मा या पदार्थों की विना किसी निमित्त के स्वयं निजी योग्यता से ही सभी कार्यों का होना बताते है, उन कार्यों मे निमित्त को सहायक नहीं मानते हैं। उनसे यह प्रश्न है कि आत्मा की वह कौन-सी योग्यता है जो स्वय उसे विभाव-रूप क्रोधमान, माया, लोभ, राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व भावयुक्त बना देती है। उस योग्यता का क्या लक्षण है? उसका किसी शास्त्र में कथन है क्या? वह योग्यता विना किसी निमित्त के होती है तो सिद्धो मे वह विभाव-रूप धारण करनेवाली योग्यता क्यों नहीं होती है? उसे कौन-सा गुण रोकता है? ये सब बाते ऐसी हैं जिनका कोई सदुत्तर नहीं हो सकता है। निर्मल, निराधार, मनगढ़ंत बातों का सदुत्तर हो ही क्या सकता है?

उपादान निमित्त में शास्त्रीय प्रमाण

यहां अब कुछ शास्त्रीय प्रमाण दिये जाते हैः—

पढ़भु व समिए सम्मे सेस तिए अविरदादि चत्तारि
तित्थयर बंध पारभया णरा केवलिदुगंते

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड पृष्ठ ४३, गाथा ९३

अर्थ—प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षयोपशम, क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुष तीर्थंकर प्रकृति का बंध केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में प्रारंभ करते हैं।

यहाँ पर विशेषता इतनी बताई गई है, की तीर्थंकर प्रकृति इतनी अतिशयवती, सर्वोपरि, अनन्य, एवं धर्मनायकत्व लानेवाली प्रकृति है कि उसका बंध सर्वज्ञकेवली और श्रुतकेवली इनके निकट मे रहनेवाला ही पुरुष करता है। गोम्मटसार की बड़ी संस्कृत टीका मे बताया गया है कि केवली श्रुतकेवली के सिवा अन्य किसी के पास इतनी विशुद्धता के भाव जागृत नहीं हो सकते हैं। उतनी विशुद्धि अन्यत्र नहीं है। यदि निमित्त कुछ भी सहायता नहीं करता है तो यह निमित्त की योग्यता और उपयोगिता ऐसी क्यो बताई गई है? आत्मा कहीं भी बैठकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध क्यों नहीं कर सकता है, इसका उत्तर यही है कि निमित्त की सहायता अन्यत्र नहीं मिल सकती है।

और देखियेः—

तीसंवासोजम्मे वासयुधत्तं खु तित्थपरमूले
पच्चक्खाणे पढ़िदो संझूण दुगाभउवपारो

पृष्ठ १७१, गाथा ४७२

अर्थ—जो तीस वर्ष तक घर में सुख से रहकर फिर दीक्षा लेता है और तीर्थंकर के पाद मूल मे आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक नौवें पूर्व का अध्ययन करता है, उसीको परिहार-विशुद्धि संयम होता है।

संयम स्वयं मुनि अपनी आत्मा मे धारण करता है, वह उसी की आत्मा का स्वरूप है, परंतु उसके लिए तीर्थंकर के पाद-मूल मे आठ वर्ष रहना आवश्यक है, यह निमित्त की सहायता है। इसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन का प्रारंभ भी केवली के निकट ही होता है।

यद्यपि आत्मा की पात्रता बिना भी कुछ नहीं होता है। एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय असंज्ञी पंचेंद्रिय इन जीवो की पर्यायो मे तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने की पात्रता नहीं होती है। किंतु भव्यसंज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तक आदि योग्यता रखनेवाला (यह भी निमित्त के द्वारा साध्य है) आत्मा सम्यग्दर्शन को उत्पन्न कर सकता है, उसमे भी यह नियम है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को जब गुरु का उपदेश मिलेगा तभी सम्यग्दर्शन हो सकता है, अन्यथा नहीं।

देशनाद्यस्तमिथ्यात्वः जीव. सम्यक्त्व मश्नुते

— सागार धर्मामृत

अर्थात् जिसने गुरु के उपदेश मे मिथ्यात्व-कर्म का अस्त (उपशम) कर दिया है वही जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता हैं। बिना देशनालब्धि प्राप्त किये (गुरु का उपदेश मिले बिना) अनादि मिथ्यादृष्टि को कभी भी निसर्गज सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। यद्यपि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में अतरंग कारण दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है परंतु बाह्य

निमित्त गुरु का उपदेश (देशनालब्धि) भी अनिवार्य आवश्यक है। यह बाह्य निमित्त की सहायता है। यद्यपि सम्यक्त्व आत्मा का गुण है, उसीमें प्रगट होता है, गुरु स्वय उस जीव को कोई अपना सम्यक्त्व दे देता भी नही है, किंतु उस जीव के सम्यक्त्व प्रगट कराने मे वाहर की सहायता देता है। बस यही निमित्त की सहायता है।

इसीको राजवार्तिककार ने कहा है:—

उभयत्र दर्शनेऽनरग हेतुस्तुल्य दर्शन मोहस्योपशमः

क्षयः क्षयोपशमोवा। तस्मिन् सति यद्बाह्योपदेशादृते

प्रादुर्भवति तन्निसर्गक यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधि

गम निमित्तं तदुत्तरम्।

—राजवार्त्तिक पृष्ठ १६

अर्थ ऊपर स्पष्ट हो चुका है। और सुनिये—

भवप्रत्ययो वधिर्देव नारकाणाम

—तत्वार्थसूत्र

अर्थ.—देव-नारकियो के जो अवधिज्ञान होता है वह भव-निमित्त से होता है। अवधि-ज्ञान की उत्पत्ति मे जैसे मनुष्य-तिर्यञ्चो के अवधिज्ञानावरणी कर्म का और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण बताया गया है वैसा अंतरंग कारण देव-नारकियो के क्यो नहीं बताया गया ? सभी देव, सभी नारकी नियम से अवधिज्ञानी (कोई सुअवधि कोई कुअवधि वाले) होते है। एसे नियम का कारण उस पर्याय की निमित्तता ही तो है।

शास्त्रकार ने प्रत्ययःपद देकर निमित्त की सहायता बताई है। अंतरंग कारण तो उनके भी होता है, परंतु वह भव के कारण हो ही जाता है।

भगवान् के समवसरण में द्रव्य मिथ्यादृष्टि नहीं जा सकता, इसको रोकनेवाला मानस्तंभ ही तो है। मान स्तंभ को देखते ही सभी द्रव्य मिथ्यादृष्टियों का मान खंडित हो जाता है। इसे निमित्त की बलवत्ता नहीं कहा जाय तो और क्या कहा जाय ?

महावीर स्वामी का जीव सिंह की पर्याय मे इतनी भयंकर क्रूरता एव जीवों की हिंसकता रखने पर भी परम वीतराग मुनिराज का उपदेश मिलते ही वहीं से सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्ष-पात्र बन गया। इसे निमित्त नहीं माना जाय क्या ? क्या मुनिराज के उपदेश का उस भव्य प्राणी पर कोई असर नहीं हुआ और वह स्वय अपनी योग्यता से क्रूरता एवं जीव-भक्षण छोडकर सम्यग्दृष्टि एव अणुव्रती बन गया ? यदि स्वय बन गया तो गुरु के उपदेश के पहले वैसा क्यो नहीं बना ?

शास्त्रो के प्रमाण हजारो दिये जा सकते है, परंतु लेख को बढाना नहीं है, इसलिये अब प्रत्यक्ष अनुभव मे आनेवाले प्रयोगो की बात ले लीजिये। तलवार या बदूक से युवा योद्धा मर गया तो उसका मरण तलवार या बदूक के कारण से नहीं मानना क्या प्रत्यक्ष का लोप करना नहीं है ? यदि स्वय आयु की समाप्ति से उसका तलवार या बंदूक से होनेवाला मरण माना जाय तो फिर अकाल-मृत्यु किसका नाम है ?

शास्त्रकार कहते हैः—

औपपादिक चरमोत्तम देहासख्येय वर्षा युषेऽनपवर्त्यायुषः

—तत्त्वार्थ सूत्र

देव-नारकी, चरमशरीरी और असंख्यात वर्ष की आयुवाले भोग-भूमिया इनकी अकाल-मृत्यु नहीं होती है, शेष जीवों की होती है। यह फल बलात् सिद्ध होता है। कानजी स्वामी ऊपर के सभी निमित्त कारणों को सहायक नहीं मानते है, तब क्या ये सभी शास्त्र झूठी बातों को कहनेवाले हैं? यदि नहीं है तो फिर 'निमित्त कारण कुछ नहीं कर सकता है' ऐसा आप किस आधार से कहते हैं? किसी भी शास्त्र में निमित्त कारण की सहायता अथवा कार्य-कारण भाव का निषेध बताइये। जिस अध्यात्मशास्त्र मे निश्चय-नय से जीव को अपने भावों का कर्त्ता बताया गया है उसमे ही अन्यत्र अथवा उन्हीं आचार्य ने दूसरे अपने द्वारा रचे हुए शास्त्र मे निमित्त को कार्य में सहायक बताया है। आप तो शास्त्रों की बात भी नहीं मानते हैं और प्रत्यक्ष सबको दीखनेवाली बात को भी नहीं मानते हैं।

विषधर सर्प के काटने से तत्काल या कुछ समय पीछे मनुष्य मर जाता है और यदि मन्त्र जाननेवाला व्यक्ति मन्त्र-प्रयोग कर देता है या चतुर वैद्य उस विष का उपचार कर देता है तो मरणोन्मुख मनुष्य जी जाता है, यह प्रत्यक्ष बात है। आप औषधि और मन्त्र-प्रयोग के निमित्त को भी कुछ नहीं करनेवाला बताते हैं तो आपकी बात को कौन शास्त्रज्ञ और लौकिक जन मानेगा? जहां प्रत्यक्ष का भी लोप किया जाता है वहा जैनधर्म क्या वेदान्तवाद है जो आंखो से दीखनेवाले मकान, मनुष्य, वृक्ष, नदी, समुद्र आदि सभी पदार्थों को भ्रमात्मक मानता है, स्वप्न के समान माया-रूप मानता है? ठीक इसी प्रकार आप भी साक्षात्

काम में सहायता देनेवाले निमित्तों को कुछ नहीं करनेवाले बताते है।

बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जब निमित्त कुछ नहीं कर सकता है तब आप गिरनारि और सम्मेदशिखर की वंदना से क्या लाभ लगे जो यात्रा कर रहे हैं! बिना प्रयोजन तो मूर्ख भी किसी काम को नहीं करता है। 'प्रयोजन मनुद्दिश्य मंदोपि न प्रवर्तते' यह नीति का वाक्य है। आप मंदिर क्यों बनाते हैं, क्यो पूजा करते है? फिर जब निमित्त कुछ नही कर सकता है तब वह कार्य के समय उपस्थित अवश्य हो जाता है। तो किसलिये हो जाता है और किस प्रमाण से या युक्ति से आप उसका उपस्थित होना सिद्ध करते है? जिसका कोई भी शास्त्र-प्रमाण नहीं और न लौकिक युक्तिवाद है, उस प्रत्यक्ष बाधित बात को कहते जाना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? यह तो एक प्रकार की सनक या बहक जैसी बात है।

फिर कार्य के समय स्वय निमित्त उपस्थित हो जाता है तो फिर आपके यात्रा-कार्य मे गिरनारि और सम्मेदशिखर स्वय सोनगढ़ क्यो नहीं आये? आप स्वयं क्यों वहां जारहे हैं? कितनी पूर्वापर विरुद्ध एवं बेतुकी अटसंट बात है!

आग लग जाने से तुरंत चीजें जलने लगती हैं, तो क्या अग्नि ने वे चीजे नहीं जलाई हैं स्वयं जलने लगी हैं? पानी डालने से अग्नि बुझ जाती है, तो क्या पानी ने अग्नि नहीं बुझाई किंतु स्वयं अग्नि बुझ गई? ऐसी-ऐसी निरर्गल बातों को मानना तो दूर रहा, कोई समझदार सुनना भी व्यर्थ समझेगा।

यदि किसी भी पशु, पक्षी या या मनुष्य का रोटी-पानी बंद कर दिया जाय तो वह कितने दिन जीवित रह सकता है ? क्या रोटी-पानी आदि आहार जीव की वर्त्तमान शरीर-पर्याय को स्थिर रखने मे सहायक नहीं है ? यदि है तो निमित्त की सहायता मानना अनिवार्य सिद्ध हो जाती है। यदि सहायक नहीं है तो फिर आहार नहीं लेकर एक-दो माह ही निराहार रहकर उसी पर्याय मे किसीको जीवित रहना बता दीजिये तब 'निमित्त कुछ नहीं कर सकता है' इस आपकी बात को सबो को मानना पड़ेगा।

शिमला पहाड़ पर ठंड के दिनो मे जहां खूब बरफ पड़ रही है वहां पर कोई आदमी ऊनी या रुई के वस्त्र पहने विना एक रात भी नंगा बैठ जाय तो प्रातःकाल या तो उसका शरीर मात्र ही वहां पडा मिलेगा या जीवित भी रहा तो सन्निपात (डबल निमोनिया) हो जायगा, तब भी विना चतुर वैद्य या बढ़िया चद्रोदय आदि की सहायता के उसका बचना कठिन ही समझना चाहिये। शिमला के गरीब लोग ठंड के दिनों मे छाती से अग्नि जलती हुई अगीठी बांधकर रहते है, यह क्या निमित्त का प्रभाव नहीं है ?

सम्मेदशिखर की एक बार भाव से वंदना करनेवाला नरक तिर्यंच गति को नहीं जाता है। यथा—

" एक बार वंदे जो कोई, ताहि नरक पशुगति नहिं होई।"
यही बात संस्कृत सम्मेदशिखर पाठ मे कही गई है।

सुकुमाल को रत्नों के प्रकाश मे सुन्दर महारारिणयों के साथ महलों मे रमण करने से हटाकर किस निमित्त ने सर्वार्थ-

सिद्धि पहुँचाया ? क्या वे स्वयं महल छोड़कर नीचे उतरे ? नहीं, किन्तु उनके महल के नीचे बने हुए चैत्यालय में बैठे हुए वीतराग अवधि ज्ञानी मुनिराज के सुकुमाल की आत्मा को हिला देनेवाले बारह भावना के शब्दों ने उन्हें नीचे खींच लिया। उनके शब्दों ने जादू-जैसा काम किया और उन शब्दो को सुनते ही सुकुमाल-शरीरी सुकुमाल-की आत्मा बदल गयी, वह-नीचे उतरकर तत्काल दीक्षा लेकर ध्यान मे बैठ गया। क्या यह उन मुनिराज का और उनके कर्णगोचर होनेवाले शब्दों का प्रभाव नहीं था ? आत्मा तो सुकुमाल की पहले भी थी, परन्तु उसमे जागृति करानेवाले निमित्त की सहायता मिली तभी पात्रभूत उपादान आत्मा ने अपना कल्याण कर डाला।

आज अनेक लोग यह कहते है कि कानजी स्वामी ने बहुत-से श्वेताम्बर स्थानकवासियो को दिगम्बर जैनी बना दिया है, परन्तु कानजी स्वामी तो बार-बार यही कह रहे है कि मन, वाणी, शब्द ये सब पर पदार्थ है। सत्पुरुषों का समागम भी पर है, उससे आत्मा का कभी कोई लाभ नहीं हो सकता है। निमित्त कुछ कर नहीं सकता तब कानजी स्वामी का कथन सच्चा माना जाय या उनके द्वारा दिगम्बर जैन बनाने का कार्य झूठा माना जाय, इसका निर्णय उनके शिष्यगण ही बताये।

कानजी स्वामी क्या यह बता सकते है कि मुनि-पद बिना नग्नता और बिना पीछी-कमडलु ग्रहण किये किसीको कभी हुआ है या हो सकता है ? और बिना केशलोंच किये भी मुनि-पद हो सकता है क्या ? दिगम्बर जैन-सिद्धान्त इस विषय मे क्या कहता है, सो बताइये। यदि किसी काल मे भी किसीको भी उक्त निमित्तो को ग्रहण किये बिना मुनि-पद नहीं हो सकता है,

तब निमित्त की बलवती सहायता मुनि-पद के लिये परमावश्यक सिद्ध हो जाती है और यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि पीछी-कमंडलु का ग्रहण करना, वस्त्र त्यागकर नग्न होना, केश-लोंच करना ये सब क्रियाए क्या मुनि-पद लेनेवाले की विना इच्छा और प्रयत्न के ही स्वयं हो जाती हैं। यदि स्वयं नहीं होती हैं तो निमित्त को आत्मा ने स्वयं पकड़ा है, यह भी सिद्ध हो जाता है। निमित्त मुनि-पद ग्रहण करते समय स्वय उपस्थित हो जाता है, यह कहना आपका असत्य एवं निराधार सिद्ध हो जाता है। और सातवां गुणस्थान तभी होता है जब कि केशलोंच, नग्नता आदि बाह्य क्रियाये पहले वह कर लेता है, विना उन क्रियाओं के पहले किये कभी भी सातवां गुणस्थान नहीं हो सकता है। इससे यह निर्णीत है कि निमित्त कार्य-सिद्धि के पहले आवश्यक कार्यकारी है, सहायक कर्त्ता है, ऐसा मानना ही पड़ेगा। वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहना निरर्थक है। हां, यह बात न तो शास्त्र ही कहते हैं और न कोई समझता है, कि नग्नता पीछी-कमंडलु और केशलोंच ने उस आत्मा में सातवें गुणस्थान के सकल चारित्र के परिणाम स्वयं दे दिये हो। सो बात नहीं है। वे परिणाम तो उस आत्मा में स्वयं के हैं और स्वयं आत्मा मे प्रगट होते हैं। निमित्त तो केवल बाह्य सहायता से उस आत्मा मे पात्रता उत्पन्न करने मे सहायक बन जाता है। बस इसी बाह्य सहायता का नाम 'निमित्त कर्त्ता' कहा जाता है। ऐसा मानने मे कौन-से वस्तु-स्वरूप या निश्चयनय मे बाधा आती है, सो विचार करें।

आज सभी गृहस्थ व्यापार के लिये, विद्या पढ़ने के लिये, अन्य अपने अभीष्ट कार्यों के लिये रेलगाड़ियो द्वारा वायु-

यानों (हवाईजहाजों), जलयानों (पानी के जहाजों) द्वारा, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, मोटरों द्वारा, पैदल यात्रा या डोली द्वारा इधर-उधर देशान्तरों मे घूमते फिरते हैं और वहां-वहां से अपना अभीष्ट बनाकर-द्रव्य, कमाकर, विद्वान् बनकर, बीमार से अच्छे बनकर, तीर्थयात्रा कर, गुरुओं का उपदेश सुनकर लौट आते हैं। क्या ये सब बातें निमित्तों के पास जाकर उनके द्वारा कार्य-सिद्धि मे सहायता पहुँचाना नहीं हैं ? आज श्री पं० जवाहरलालजी नेहरू (प्रधानमंत्री, भारत सरकार) दो दिन मे ही अमरीका पहुँच जाते हैं। क्या यह हवाईजहाज द्वारा निमित्तभूत सहायता नहीं है ? यदि वे पानी के जहाज से जाते तो १५।२० दिन में या अधिक दिनों मे पहुँच पाते। बैलगाड़ी से तो वहां उनका पहुँचना ही अशक्य है। क्या ये निमित्त कार्यसाधक नहीं है ? वे पालम अड्डे पर स्वयं पहुँचते हैं न कि हवाईजहाज या अमरीका उनके पास आजाता हो और ऐसा भी नहीं है कि हवाईजहाज केवल उपस्थित रहता है, वह कुछ करता नहीं है किंतु वह उनके बैठते ही आकाश मे उडता है, अमरीका तक चला जाता है। ऐसी अवस्था में 'निमित्त कुछ करता नहीं है और उपस्थित मात्र रहता है' ऐसी संसार की आंखो मे धूल झोकनेवाली, सरासर प्रत्यक्ष-विरुद्ध झूंठी बातें एवं शास्त्र-विरुद्ध बातें कही जाती है और उनके भक्त शिष्य लोग उन्हे मान लेते है और ऐसी बातों के कहने वाले को सद्‌गुरू कहते हैं। यही आश्चर्य की बात है। जिस कथन मे शास्त्र-विरोध हो, प्रत्यक्ष विरोध हो, युक्तिशून्यता हो और अनुभव-विरोध हो, वह बात सर्वथा झूंठ है, कभी ग्रहण करने योग्य नहीं है।

क्या कानजी स्वामी यह बता सकते हैं कि कोई मनुष्य प्रति दिन मांसभक्षण करता रहे, उसे छोड़े नहीं, और कुदेव, कुगुरु,

कुशास्त्रों की पूजा भी करता रहे, उसे छोड़े नहीं, तो क्या उस मनुष्य को सम्यग्दर्शन या भेद-विज्ञान हो सकता है ? यदि हो सकता है तो वैसा कोई आधार बताइये और यदि वैसी अवस्था में (मांस-भक्षण और कुदेवादि की पूजा छोड़े विना) उसके भेद-ज्ञान एवं सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है, तो फिर आपका यह कहना सर्वथा मिथ्या है कि बाह्य क्रियाए तो पर है, उनसे आत्मा की कोई हानि या लाभ नहीं हो सकता है और पर निमित्त कुछ नहीं कर सकता है। इन बातो का सदुत्तर है सो बताइये।

देखिये श्रीमत् विद्यानंदि स्वामी क्या कहते हैः—

"विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्ध्यतर कारणकः मोहोदयत्वान् मदिराकारणक मोहोदयवत् इत्यनुमानात् यत्तत्सम्बध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादिकर्मेति तदभावे साकल्पेन विरत व्यामोहः सर्वमतीतानागत वर्त्तमान पश्यति

"यदस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे नभवत्येव यथा अग्नेरभावे धूमः सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो व्यामोहस्तस्मा तदभावे सन भवति इति निश्चीयते।"

—अष्टसहस्री पृष्ठ ४६

इन ऊपर की पंक्तियों मे यह बताया गया है कि जिस प्रकार मदिरा पीने से पीनेवाला मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, यह प्रत्यक्ष बात है। ऐसा नहीं है कि मदिरा निमित्त कुछ नहीं करता है, स्वयं मनुष्य अपनी योग्यता से मूर्च्छित हो गया है। वहां पर मनुष्य की मूर्च्छा मे मदिरा को निमित्त कारण बताया गया है। उस प्रत्यक्ष दृष्टिगत बात को कोई झूठ नहीं बता सकता है। यदि झूठ हो तो मदिरा पीना कोई

दोष ही नहीं माना जाय। उसी प्रकार आत्मा से भिन्न जो मोहनीय एवं ज्ञानावरणादि कर्म हैं वे ही आत्मा में केवलज्ञान नहीं होने देते हैं, वे उसे रोक रहे हैं। उन कर्मों के हट जाने पर आत्मा वीतरागी और केवलज्ञानी बन जाता है। जो जिस कारण के होने पर ही हो, उसके अभाव में नहीं हो, तो वह उस कार्य का कारण माना जाता है। जैसे अग्नि के विना धूम नहीं होता है तो धूम अग्नि का कार्य माना जाता है, ऐसा नहीं है कि धुआं अपने-आप हो जाता हो, अग्नि उसमे कारण नहीं हो। आत्मा की सर्वज्ञता और वीतरागता में बाधक घातिया कर्म हैं, उनका अभाव होने पर ही सर्वज्ञता, वीतरागता आत्मा मे प्रगट होती हैं।

इस कथन से सभी बातों का खुलासा हो जाता है, और कानजी स्वामी का प्रवचन मिथ्या ठहर जाता है। आत्मा के गुणों का पर पदार्थ ज्ञानावरणादि कर्मघात करनेवाले निमित्त कारण हैं। इस सिद्धि से यह बात आगम और हेतुवाद से आचार्यों ने सिद्ध की है कि कर्म जड होने पर भी और पर पदार्थ होने पर भी आत्मा के गुणों को प्रगट नहीं होने देते हैं। यह निमित्त कारण की बलवत्ता है।

उपादान और निमित्त दोनो से ही कार्य-सिद्धि है

देखिये, यदि उपादान मे कार्य होने के अनुकूल पात्रता नहीं है तब निमित्त भी कुछ नहीं कर सकता है, जैसे देव-पूजा करनेवाला व्यक्ति यदि देव में पूर्ण श्रद्धा और भक्ति नहीं रक्खे प्रत्युतः उस मूर्त्ति को पत्थर समझे तो उस व्यक्ति के लिये देव-पूजा या देव का निमित्त कुछ भी हितकारी नहीं हो सकता है। आत्मा की अपात्रता अथवा भावों की विरुद्धता में

निमित्त कुछ नहीं कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा की पात्रता एवं भावों की अनुकूलता होने पर भी यदि कोई मनुष्य केवली-श्रुतकेवली का चरण-सान्निध्यरूप निकटता नहीं पा सकता है तो उस निमित्त के बिना पात्र एवं भाव अच्छे रखनेवाला भी पुरुष क्षायिक सम्यक्त्व, परिहार विशुद्धि चारित्र और तीर्थंकर-प्रकृति का बंध कभी नहीं कर सकता है। जैसे भावों मे उत्कट वैराग्य होने पर भी यदि बाह्य परिग्रह का त्याग, वन-विहार, नग्नता, पीछी-कमंडलु, केश-लुंचन आदि बाह्य निमित्त नहीं जुटाये जायं तो कभी भी आत्मा मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिये उपादान और निमित्त कारण दोनों ही मिलकर आत्मा को मोक्ष प्राप्त करा देते है। और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील-सेवन, मांस-भक्षण आदि निमित्त ही तीव्र कर्मबंध द्वारा जीवन को नरकादि गतियो को पहुँचा देते है। यहाँ पर आत्मा मे भावो की विकृति उपादान, और हिंसादिक पाप-क्रियाएं निमित्त है। दोनों से ही ससार-भ्रमण है। परंतु कानजी स्वामी केवल आत्मा से स्वयं संसार-भ्रमण और विना निमित्त के स्वयं उसका मोक्ष बताते है, यह बात विपरीत है, इसे पाठक समझ ले।

"परस्परोपग्रहो जीवनाम्" "सुख दुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च" –तत्वार्थसूत्र

एक जीव दूसरे जीव का उपकार करता है। सुख-दुःख, जीना-मरना यह भी परस्पर एक दूसरे के द्वारा होते है, पुद्गल कर्मों के द्वारा भी जीना-मरना, सुख-दुःख, साता असाता आयु कर्म के द्वारा होते हैं।

"परस्परोदीरित दुःखाश्च", "संक्लिष्टा सुरोदीरित दुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः"–तत्वार्थसूत्र

नारकी एक दूसरे को दुःख देते हैं। संक्लिष्ट परिणामवाले अम्बावरीषादिक विशेष जातिवाले असरकुमार देव (सभी नहीं) तीसरे नरक तक स्वयं जाकर नारकियों को परस्पर भिड़ाकर उन्हें दुःख पहुँचाते हैं। यह सब निमित्त कारण की बलवत्ती सहायता नहीं है तो क्या है? जबकि स्वयं उमास्वामी आचार्य परस्पर उपकार बता रहे हैं, फिर भी निमित्त कुछ नहीं कर सकता, ऐसा कहना शास्त्र-विपरीत नहीं है क्या?

माता बच्चे को नौ मास गर्भ में रखकर उसके जन्म के पीछे स्वयं कितना दुःख उठाती है, बच्चे के मल-मूत्र को स्वयं धोती है। चौबीस घंटे उसकी परिचर्या सेवा करती है। क्या यह पर द्वारा बच्चे का उपकार नहीं है?

स्त्री पर्याय मे आत्मा अर्जिकातक बनकर भावों की विशुद्धि कर लेती है परंतु फिर भी उस पर्याय से कभी किसी भी काल मे मोक्ष नही जाती, इसका मूल कारण क्या है? पंचम-काल के मुनियों की विशुद्धि और ध्यान यहां तक शास्त्रों में बताया गया है कि चतुर्थ-काल के मुनि जितनी विशुद्धि और ध्यान की सिद्धि अधिक समय मे करते है, उतनी विशुद्धि और ध्यान की सिद्धि पचम-काल के मुनिराज स्वल्प समय मे ही कर लेते हैं। फिर भी पचम-काल मे मुनि मोक्ष, भरत-क्षेत्र से क्यों नहीं जाते है? इसका मूल कारण क्या है? स्त्री-पर्याय से सर्वदा मुक्ति का अभाव और पंचम-काल के मुनियो की मुक्ति का अभाव वज्रवृषभनाराच संहनन रूप निमित्त कारण के नहीं मिलने से ही है। बस यही मूल कारण है। इसलिये आत्मा की भाव-विशुद्धि और पात्रता होने पर भी निमित्त का अभाव मोक्ष तक को रोक देता है। फिर 'निमित्त पर है शरीर जड़ है, ये आत्मा का कुछ नहीं कर सकते ये' बाते—मंगल ग्रह

में कुछ दिनों मे पहुँच जायेगे या वहां जाकर आये हैं, ऐसा प्रसिद्ध करनेवाले आधुनिक विज्ञानवादियों के समान ही असंभव एवं मिथ्या है।

सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य पूज्यपाद स्वामी जगह-जगह सूत्रों मे यह बात कह रहे है कि:—

अंतरंग वहिरंग कारणाभ्यां कार्यसिद्धिः
उभयकारणाभ्यां विना न कदाचित् कार्यसिद्धिः

अतरंग कारण और वहिरंग कारण दोनों कारणों से ही कार्यसिद्धि होती है, केवल उपादान अथवा केवल निमित्त से कभी कोई कार्यसिद्धि नहीं हो सकती है, यह सभी शास्त्रों का निश्चित सिद्धांत है।

तीर्थंकर भगवान् जब जन्म लेते है तब उनके अनन्य पुण्यातिशय से चारों गतियों के जीव अन्तर्मुहूर्त्त तक सुख का अनुभव करने लगते है। जहां नरको मे नारकियो को एक क्षण मात्र भी सुख नहीं मिल सकता है, वहा भी एक अन-मुहूर्त्त समय तक नारकी तीर्थंकर के जन्म लेने के समय सुखी बन जाते है। यह निमित्त कारण का ज्वलत उदाहरण नहीं है क्या ? कानजी स्वामी बतायें कि यह बात असत्य है क्या ? यदि असत्य है तब उसका आधार-प्रमाण बताइये। यदि सत्य है तो फिर 'निमित्त एवं पर पदार्थ आत्मा का कुछ नही कर सकता' यह कहना असत्य सिद्ध होता है। सुख-दुःख तो आत्मा के ही भाव है, वे कोई जड़ पुद्गल के तो नहीं हैं, और तीर्थंकर पर पदार्थ हैं यह भी स्पष्ट बात है। तब तीर्थंकर-रूप पर निमित्त से चतुर्गति के जीवो को सुख होना पर निमित्त का ही माहात्म्य है, यह मानना ही पड़ेगा। शास्त्र इसके प्रमाण हैं।

निमित्त कारण की सहायता का प्रमाण

आचार्य अकलंकदेव कहते हैं—

'इहलोके कार्यमनेकोपकरण साध्यं दृष्टं यथा मृत्पिंडो घटकार्य परिणामप्राप्तिं प्रतिगृहीताभ्यंतर सामर्थ्यः बाह्य कुलाल दंड चक्र सूत्रोदक कालाकाशाद्यनेकोपकरणापेक्षः घट-पर्यायेणाऽऽविर्भवति नैक एव मृत्पिंडः कुलालादि बाह्य साधन सन्निधानेन विना घटात्मना ऽऽ विर्भवितुं समर्थः"

—राजवार्तिक पृष्ठ २१४

अर्थ —जगत् मे कोई भी कार्य अनेक उपकरणो (सामग्री) से सिद्ध होता है, जैसे घट-रूप पर्याय की प्राप्ति के लिये अंतरंग मे तो मिट्टी मे घट-पर्याय होने की सामर्थ्य होनी चाहिये, बाह्य निमित्तो मे कुम्हार, डंडा, चाक, डोरा, पानी, काल, आकाश आदि अनेक उपकरणों (निमित्तों) की अपेक्षा (सहायता)होनी चाहिये तभी मिट्टी घट-पर्याय रूप मे परिणत हो जाती है। केवल अकेला मिट्टी का पिंड कुम्हार, चाक, आदि बाह्य निमित्त-साधनों की सहायता के बिना घट-रूप पर्याय कभी प्राप्त नहीं कर सकता है। केवल मिट्टी मे घट बनने की सामर्थ्य नहीं है। उपादान मे निमित्त की सहायता सिद्ध करने के लिये आचार्य अकलंकदेव ने कितना बढ़िया खुलासा किया है। निमित्त की अपेक्षा को बताते हुए उन्होने यह लिख दिया है कि बिना निमित्त की अपेक्षा के घट नहीं बन सकता है।

कोई निश्चयावलंबी घट का कर्ता केवल मिट्टी को ही माननेवाला यह शंका उठाये कि कारण के अनुरूप (तदात्मक) ही कार्य होता है तो क्या कुम्हार, चाक आदि निमित्त घट रूप

मिट्टी के समान बन जाते है? इस शंका के उत्तर मे आचार्य कहते हैं:—

"यथा मृदः स्वयमन्तर्घटभवन परिणामाभिमुख्ये दंड चक्र पौरुषेय प्रयत्नादि निमित्त मात्रं भवति यतः सत्स्वपि दंडादि निमित्तेषु शर्करादि प्रचितो मृत्पिंडः स्वयमन्तर्घट भवन परिणाम निरुत्सकत्वात् न घटी भवति अतो मृत्पिंड एव बाह्य दंडादि निमित्तापेक्षः अभ्यन्तर परिणाम सान्निध्यात् घटो भवति न दण्डादयः इति दंडादीना निमित्त मात्रत्वम्"

—राजवार्तिक पृष्ठ ५०

अर्थ-मिट्टी स्वय घट-रूप पर्याय धारण करने की सामर्थ्य रखती है। उस घट-पर्याय की प्राप्ति मे दंड, चाक, कुम्हार का प्रयत्न आदि निमित्त कारण है। वे स्वय घट-रूप परिणाम मिट्टी के समान धारण नहीं करते हैं। घट-परिणाम तो मिट्टी में ही होता है, वे दंडादिक तो केवल निमित्त मात्र है। अर्थात् घट के बनने में मिट्टी उपादान कारण होने से वह स्वय घट-रूप पर्याय धारण कर लेती है, परंतु बाह्य साधन कुम्हार, दंड आदि घट के बनने मे बाहर से ही (भिन्न रहकर ही) सहायक बन जाते है। वे घट-रूप स्वय नहीं बनते है।

कितना पुष्ट एवं स्पष्ट प्रमाण निमित्त की सहायता मे राजवार्तिककारने दिया है।

अब एक प्रमाण 'समयसार' का दिया जाता है:—

चेदादुपयडियट्ठं उप्पजदि विणस्सदि
पयडीपि चेदयट्ठं उप्पजदि विणस्सदि।

एवं बंधो दुण्हयि अण्णोण पच्चमाण हवे
अप्पणो पयडी एय संसारोतेणजायदे ।

—समयसार पृष्ठ १६२, गाथा ३४०।३४१

अर्थ—आत्मा अपने स्वभाव से च्युत होकर कर्म के निमित्त से अपनी विभाव-परिणति से उत्पन्न और विनष्ट होता है अर्थात् विभाव-भाव नये-नये धारण करता है। कर्म भी चेतन-कार्य रागादि परिणामों के लिये ज्ञानावरणादि कर्म-पर्यायों को धारण करता है। इस प्रकार जीव और कर्म इन दोनों का बंध और संबंध जीव और कर्म दोनो के कारण से होता है, इसीका नाम संसार है। इन दो गाथाओं मे जीव और कर्म दोनो एक दूसरे के परिणमन मे निमित्तभूत कर्त्ता ठहरते है और दोनो ही निमित्त एक दूसरे की पर्याय बदलने मे निमित्त-रूप सहायक बनते है। इन गाथाओ मे प्रत्यय-पद दिया गया है। बस इससे अधिक प्रमाण देना व्यर्थ है। अब कानजी स्वामी बतावे कि समयसार-कार भगवत्कुंदकुंद स्वामी 'समयसार' मे ही निमित्त कारण को कर्त्ता और सहायक बता रहे है। ऐसी अवस्था में आपका नया विज्ञान कि 'निमित्त कुछ नहीं कर सकता है' किस शास्त्राधार से प्रमाणभूत माना जाय ? 'समयसार' मे जहां पुद्गल को जीव का और जीव को पुद्गल का कर्त्ता नहीं बताया है और उसी समयसार' मे अन्यत्र कर्त्ता बताया है वहां दोनो का समन्वय करना आवश्यक है। परस्पर-विरोधी कथन नहीं है। जीव के गुण-रूप पुद्गल और पुद्गल के गुण-रूप जीव कभी नहीं हो सकता है, परतु एक वस्तु के परिणमन मे दूसरा भिन्न पदार्थ विना तद्‌गुण परिणमन-रूप हुए बाहरी सहायता करता है। यही निमित्त-नैमित्तिक भाव दोनो का समन्वय है।

निमित्त कुछ नहीं कर सकता, इस धुन में कानजी स्वामी तो यहां तक भूल गये हैं कि केवल पुद्गल द्रव्य की पर्यायो में भी वे पुद्गल को कर्त्ता नहीं मानते है । परंतु पुद्गलों मे तो परस्पर एक निमित्त उपादान बन जाता है। अग्नि जल, जल पृथ्वी, पृथ्वी वायु आदि बन जाती है। कारण पुद्गलो में "बंधेऽधिकौ पारिणामिकौच" इस तत्वार्थसूत्र के अनुसार परमाणु भी दूसरे स्कंध के कारण अपने स्वरूप छोड़कर पर-रूप परिणत हो जाता है । इतना स्पष्टीकरण करने पर भी यदि कानजी स्वामी अपने मन्तव्य पर ही दृढ रहते है तो रहें ! मैने तो वस्तु-स्वरूप शास्त्र-प्रमाणों से बता दिया है।

प्रत्यक्ष-विरुद्ध दृष्टान्त

निमित्त उपादान के संबध मे अनेक दृष्टान्त श्री कानजी स्वामी ने दिये है जो 'आत्मधर्म' और 'वस्तुविज्ञानसार" उनकी रची हुई पुस्तक मे छपे है। उन्हे पढकर कोई भी समझदार हसे विना नहीं रह सकता, और उन दृष्टान्तो को बुद्धिशून्य एव अविचारितरम्य समझेगा ।

कानजी स्वामी कहते है कि—

पति पत्नी ब्रह्मचर्य से रह रहे है, इसलिये दोनो का संयोग नहीं होने से पुत्र नहीं हुआ—यह मानना मिथ्या है । पुत्र जब होना होगा तब होगा, उसमे पति-पत्नी का संयोग निमित्त कुछ नहीं करता है। पुत्र का होना पति-पत्नी के संयोग निमित्त नहीं मिलने से रुक गया, यह समझना मिथ्या है ।

अब इस दृष्टान्त का उत्तर देना व्यर्थ है जबकि यह कार्य-कारणरूप अटल नियम है कि पुत्र का जन्म माता-पिता के संयोग से ही होता है। फिर उस कार्य-कारण भाव को ही नहीं मानना, यह एक बहुत लंबी सूझ निमित्त को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये है। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। पुत्रोत्पत्ति में उनकी मान्यता से माता-पिता द्वारा गर्भाधान कारण ही नहीं है, विना गर्भाधान के पुत्र स्वयं उत्पन्न हो जाता है, ऐसा मानने से फिर कोई पुत्रोत्पत्ति मे माता-पिता को निमित्त कारण तो नहीं मान सकेगा। वह तो, निमित्त कुछ नहीं कर सकता है, यह बात सिद्ध करना है, भले ही कार्य-कारण भाव के अटल एवं अनिवार्य नियम को झूंठा बता दिया जाय। पुत्र गर्भ मे नहीं आता किंतु प्रच्छन्न रूप मे आकाश से टपक पड़ता है, यदि ऐसा भी कानजी भाई कहते तो माता का गर्भधारण निमित्त भी हट जाता।

दूसरा दृष्टान्त भी सोलह आना सच समझकर दिया गया है—"मोटर में पेट्रोल खतम हो गया, इसलिये मोटर रुक गई। यह समझना भी मिथ्या है।" निमित्त को अकिंचित्कर (व्यर्थ) सिद्ध करने के लिये कैसी आंखों मे धूल झोंकी गई है जबकि मोटर विना पेट्रोल के रंच मात्र भी नहीं चल सकती है और पेट्रोल डालते ही चलने लगती है। पेट्रोल मोटर चलने के लिये उतना ही आवश्यक कारण है जितना कि रेलवे इंजन चलने के लिये कोयला और पानी। परंतु कानजी स्वामी के ज्ञान मे इंजन चलने के लिये कोयला-पानी निमित्त भी झूंठा ही जंच रहा है। इंजन अपनी योग्यता से स्वयं चलता है, वह कोयला-पानी के निमित्त से नहीं चलता है। इसी प्रकार पेट्रोल भी मोटर चलने में निमित्त नहीं है।

और सुनिये—

सूर्य का उदय हुआ इसलिये धूप निकल गई या अं चला गया, यह मानना भी मिथ्या है, स्वामीजी हैं कि धूप सूर्य के उदय होने के निमित्त से नहीं निक किंतु अपनी योग्यता से स्वय निकली है।

और भी जादूगरी की बात सुनिये—

किसीने अपने हाथ से पकड़कर लकड़ी को ऊंचा दिया तो वहां उस व्यक्ति के हाथ को लकड़ी के उठा निमित्त माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। कारण लकड़ी हा द्वारा उठाने मे नहीं उठी है, किंतु स्वय अपनी योग्यता से है। हाथ तो चमड़ा है, जड है, पर वस्तु है, वह लकड़ी क उठा सकेगा ?

कानजी स्वामी ऐसी दुनियां मे रहते है जहा प्रत्यक्ष की भी कोई कीमत नहीं है। भले ही सभी देखनेवाले यह कि लकडी व्यक्ति ने अपने हाथ से हमारे सामने उठाई है स्वामीजी उस प्रत्यक्ष बात को भी इसलिये नहीं मान सक कि वे यदि मान लें तो हाथ का निमित्त लकड़ी के मे सहारा या सहायक सिद्ध हुआ जाता है।

जब वे प्रत्यक्ष की बात भी नहीं मानते हैं तब आग परोक्ष है। उसकी कीमत तो वहा नाममात्र को भी नहीं कहते हैं कि मुक्त जीव अलोकाकाश मे नहीं जाता है व वहां पर धर्म-द्रव्य नहीं है, ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है। जीव के गमन मे धर्म-द्रव्य को निमित्त कहा जाता है, परंत निमित्त नहीं है। कानजी स्वामी धर्मास्तिकाया भावात्" इस स सूत्र को कोई महत्त्व नहीं देते हैं और न उस सूत्र को मानते हैं। यह है उनकी पक्की सूझ जहां आगम भी अकिं

(व्यर्थ) ठहरा दिया जाता है। क्योंकि आगम निमित्त को बाह्य कार्यकारी बताता है तब आगम की बात मानने से अपनी अलौकिक सूझ मारी जाती है।

इसी प्रकार स्वामीजी अनेक दृष्टांत देते हैं। आत्मा में कर्मों के उदय से विकार नहीं होता है, किंतु स्वयं आत्मा अपनी योग्यता से विकारी बन जाता है। इस दृष्टांत में इस शंका का क्या समाधान होगा कि जब आत्मा का कर्मोदय कुछ नहीं कर सकता है, स्वयं आत्मा विकारी बन जाता है तो अनादि काल से आत्मा शुद्ध ही मानना चाहिये। फिर जब स्वयं विकारी बन जाता है तो सिद्ध भगवान विकारी क्यों नहीं बन जाते है। क्योंकि विकारी होने की योग्यता बाहर से आती नहीं है, वह तो स्वय आत्मा मे है। इसका क्या समाधान है सो स्वामीजी बतायें।

इसी प्रकार गुरु या शास्त्र के द्वारा श्रद्धा और ज्ञान हुआ-ऐसा मानना भी उनकी समझ से ठीक नहीं है। श्रद्धा और ज्ञान आत्मा मे स्वय की योग्यता से होते है। उसमे गुरु और शास्त्रों को निमित्त मानना असत्य है। फिर तो गुरु के उपदेश से सम्यग्दर्शन होने की शास्त्रो की बात झूठी ही ठहरती है, और पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, स्कूल, कालेज, गुरुकुलों मे शिक्षा प्राप्त करने के साधन सब व्यर्थ ही ठहरते है। प्रोफेसर, प्रिंसिपल, आचार्य प्रधानाध्यापक आदि पढ़ानेवाले सब व्यर्थ हैं। उनके निमित्त से छात्रों को कुछ भी विद्यालाभ हो ही नहीं सकता है। ज्ञान-प्राप्ति की जब योग्यता होगी तब स्वयं घर बैठे ही एक बालक बिन किसीके पास पढ़े स्वयं पंडित, आचार्य, प्रोफेसर आदि बन जायगा? यह तो बड़ा सुंदर आविष्कार है, स्कूल, कालेज, महाविद्यालय, यूनिवर्सिटी आदि में लगनेवाले करोड़ो रुपये व्यर्थ

ही बरबाद हो रहे है, उन्हे हटा देना चाहिये। रुपयों का निर्ा
भी उनकी दृष्टि मे झूठा है।

परंतु कानजी स्वामी के शिष्यगण यह कहते है कि उन
'समयसार' का अभ्यास करके स्थानकवासी मत छोड़कर दिग
जैनमत धारण कर लिया है और अब उन सद्गुरु ने अ
श्वेताम्बर स्थानकवासी जैनों को दिगम्बर जैन बना दिया है
क्या यह उनका कहना सच माना जाय या झूठ ? यदि सच म
जाय तो फिर शास्त्रों के निमित्त से ज्ञान मानना पडेगा
गुरु के निमित्त से श्रद्धा माननी पड़ेगी, और निमित्त का
कार्य-सहायक सिद्ध होता है। यदि उनका कहना असत्य म
जाय तो 'समयसार' का प्रतिदिन स्वाध्याय करना व्यर्थ है
कानजी स्वामी को सद्गुरु मानना भी व्यर्थ है। कानजी स्व
ने कोई दिगम्बर जैन नहीं बनाया है और न 'समयसार'
किसीको ज्ञान हुआ है। वाहरे निमित्त! तेरे निमित्त से कि
कल्पनाएं उठाई जा रही है और उनके सामने आगम
प्रत्यक्ष भी कल्पनात्मक बनाये जा रहे है! इतना बड़ा उलट-
करने पर भी निमित्त की अनिमित्तता (व्यर्थता) सिद्ध
हो पाई। अस्तु।

निमित्त को कार्य-साधक नही मानने से भयकर हा

मुझे इस निमित्त-उपादान विषय पर इतना लिखने की
आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका कारण यह है कि एक तो निमि
को अकिंचित्कर (व्यर्थ) मानने से प्रत्यक्ष का लोप होता
विचारशील विद्वान-वस्तु-स्वरूप से विपरीत बात सुनक
जैन-दर्शन की हसी करेगे और कोई भी उसे महत्त्व नहीं दे
यह एक भयकर हानि है। आज यह सबकी आंखों के सा

है कि जगत का समस्त लोक-व्यवहार निमित्त कारणों से चल रहा है। करोड़ों अरबों रुपये के व्यापार, लेन-देन र रोकड़बही, खाताबही, हिसाब रजिष्टर आदि के द्वारा चल र है। रोकड़खाता की लिखावट देखकर और जांचकर सरकार डिगरी दे देती है। रोकड़खाता की मान्यता से ही रुपया चुक जाता है। इसी प्रकार एक चिट्ठी में किसी इष्ट के वियं की बात पढ़कर सभी परिवारवाले दुःख एवं शोकमग्न बन ज हैं और एक चिट्ठी मे बीस लाख के मुनाफे की बात अथ पुत्रोत्पत्ति की बात पढ़कर सभी परिवार अपरिमित आन मग्न हो जाता है। तब ये सब रोकड़खाता, चिट्ठी-पत्री अ निमित्त ही तो आत्माओं मे हर्ष-विषाद की लहर पैदा कर है। तो क्या ये सब निमित्त व्यर्थ एव कुछ नहीं करनेव माने जा सकते हैं ? डाकू आये, सब माल ले गये और किसी जान से मार भी गये तो क्या यह मानना चाहिये कि ड हमारा कुछ नहीं कर गये ? ऐसी बहक सरीखी बातो के प्र से वस्तु-स्वरूप का सर्वथा विपरीत भाव लोगो में जैनधर्म अश्रद्धा पैदा कर देगा।

दूसरा भयकर परिणाम निमित्त को कार्यकारी नहीं मा से यह होगा कि ऐसे काल्पनिक साहित्य के अनुयायी भोले ल वचनो से प्रभावित होकर सभी प्रकार के निमित्तो को कुछ न कर सकनेवाले समझकर अथवा शरीर से होनेवाली क्रिया जड़ की क्रिया समझकर अधर्म एवं पापो मे तो प्रवृत्त हो जा और देव-पूजा, गुरु-भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, व्रताचरण, उपव तपश्चरण आदि धर्म-साधन को छोड़ बैठेंगे। तब श्रावक-' और मुनि-धर्म की कैसी क्या परिस्थिति हो जायगी। इसे ब दूरदृष्टि एवं गंभीर बुद्धि से सोचना चाहिये।

१०।२० मंदिरों की रचना तो यों ही रह जायगी; आगे साहित्य ही लोगों के समयप्रवाही शिथिलाचारी मस्त में स्थान पालेगा और ये नये दिगम्बर जैन बननेव एवं शिष्यगण किस वस्तु-स्वरूप में उलझे रहेंगे। अपना दूसरों का अहित ही करेंगे। ये सब बाते विचारणीय हैं।

इसलिये ऐसे भ्रमपूर्ण विपरीत प्रचार को रोककर दिगम्बर जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप दिगम्बर जैनशा में बताया गया है और जो आज तक अक्षुण्ण चला आ है, उसीका प्रचार और पालन होना चाहिये। उसीसे अप और दूसरों का कल्याण हो सकता है।

व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, यह मिथ्यावाद है

व्यवहार की असत्यता का स्वामीजी का छठा मन्तव

"विपरीत दृष्टि के अन्य अनेक नाम हैं, जैसे कि मिथ्य दृ व्यवहारदृष्टि, पर्यायदृष्टि, विकारदृष्टि, अभूतार्थसिद्धि। ये एकार्थवाची शब्द हैं।" आ० ध० पृष्ठ १५, अंक १, व

"व्यवहार कहता है कि मैं पर्यायाश्रित हूं इसलिये मेरे व का शब्दार्थ करना ठीक नहीं, असत्य है।"

आ० ध० पृष्ठ २४, अंक २, व

"व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, यह मिथ्यावाद है

"आत्मा के शुद्ध भाव से और शुभ भाव से धर्म होता है, मिथ्यावाद है।" आ० ध० पृष्ठ ७८, अंक ६, व

व्यवहार को सर्वथा असत्य मानना ही मिथ्या है

स्वामीजी के निश्चयाभास का सप्रमाण खडन

(निश्चय व्यवहार दृष्टि पर विचार)

श्री कानजी स्वामी एकान्त रूप से निश्चय को मानते हैं, वे व्यवहार को सर्वथा असत्य मानते हैं; जैसा कि उनके 'आत्मधर्म' और "वस्तुविज्ञानसार" पुस्तक के पढ़ने से स्पष्ट होता है। वे कहते हैं कि "व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट होता है, यह मिथ्यावाद है।" परंतु यह बात उनकी शास्त्रों से सर्वथा विपरीत है। शास्त्रों मे व्यवहार-धर्म को निश्चय अथवा मोक्षप्राप्ति मे पूर्ण साधक माना गया है। देव-पूजा, गुरु-श्रद्धा, शास्त्र-स्वाध्याय, तपश्चरण, अणुव्रत, महाव्रत ये सब बाह्य क्रियाए निश्चय के लिये साधक है–ऐसा खुलासा इस ट्रैक्ट में देव-शास्त्र गुरु-पूजा प्रकरण मे स्पष्ट रूप से सप्रमाण लिखा गया है, उसे पाठक पढ़कर समाधान समझ लेवें। यदि व्यवहार से निश्चय प्रगट नहीं हो तो श्रावकों और मुनियो की सब क्रियाए व्यर्थ ही ठहरेंगी, और विना क्रियाओ के पालन किये कोई भी पुरुष उपशम या क्षयक श्रेणी नहीं चढ़ सकता है और कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है।

यदि व्यवहार मिथ्या हो तो फिर निश्चय की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। दोनो नय परस्पर सापेक्ष और प्रमाणभूत है।

निश्चय व्यवहार का स्पष्टीकरण

यहां निश्चय व्यवहार का खुलासा कर देना आवश्यक है। श्री कानजी स्वामी और उनके शिष्यगण समझ ले।

निश्चयनय का अर्थ यही है कि वस्तु का जो वास्तविक निज का रूप है (असली रूप है) उसे कहना या जानना। जैसे आत्मा का निश्चय स्वरूप शरीर और कर्मों से सर्वथा रहित, अनत गुणों की प्रकटता युक्त जो सिद्ध स्वरूप है, वही निश्चयनय से आत्मा का स्वरूप कहा जाता है। ऐसा स्वरूप प्रत्येक भव्य जीव का होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक सभी संसारी जीवो का यथार्थ स्वरूप क्या है, इस प्रश्न के उत्तर मे निश्चय दृष्टि से यही कहा जायगा कि जो सिद्धो का स्वरूप है वही समस्त संसारी आत्माओ का स्वरूप है। इसका साराश यही है कि निश्चय दृष्टि मे वस्तु की परपदार्थ के संबध से रहित केवल स्वय की जो शुद्ध पर्याय है वही ग्रहण की जाती है।

परन्तु इस निश्चय दृष्टि का स्वरूप-विवेचन करने वाले अधकचरे ज्ञानवाले लोग यह भूल जाते है कि जो निश्चय विवेचन है वह शुद्ध स्वरूप का है किन्तु वर्त्तमान संसारी अवस्था तो वैसी नहीं है। ससारी जीव तो कर्म और शरीर से जकड़े हुए हैं और उन्हींके कारण आत्मा के गुणो को भी प्रगट करने मे असमर्थ बने हुए है। अब यहां पर यह विचार करना है कि यह जो कहा जाता है कि आत्मा शरीर सहित है और कर्मों से युक्त है। यह व्यवहार-दृष्टि कोई असत्य हो सो नहीं है। वह भी वास्तविक है। यथार्थ है। यदि यह व्यवहार-दृष्टि असत्य एव वास्तविक नहीं मानी जाय तो क्या आत्मा के कर्म और शरीर जो बधे हुए हैं वे सब भ्रमात्मक है? यदि इन्हे भ्रमात्मक माना जाय तो फिर संसारी आत्मा को केवल-ज्ञानी, अनत सुखी, अनत वीर्ययुक्त, अनतदृष्टा मानना पडेगा और ऐसा मानना प्रत्यक्ष बाधित है। केवलज्ञानी तो चराचर त्रिलोक को प्रत्यक्ष जानते हैं, संसारी जीव तो प्रत्यक्ष

कुछ भी नहीं जानता । वह सुखी भी नहीं है, अनंत शक्ति शाली भी नहीं है । ये सब अवस्था सबों को इन्द्रियगोचर है । इसलिये व्यवहार-दृष्टि मिथ्या नहीं है । असत्य भी नहीं है । किन्तु व्यवहार का स्पष्ट स्वरूप यह है कि एक द्रव्य की मिश्रित—परपदार्थ सम्बन्धित पर्याय है, वही व्यवहार है । जीव की शरीर और कर्मविशिष्ट पर्याय को संसारी जीव का स्वरूप मानना यही व्यवहार है । इसलिये व्यवहारनय पर-पदार्थ से मिश्रित स्वरूप को ग्रहण करता है। यह भी निश्चित प्रमाणभूत है ।

व्यवहार को जो मिथ्या असत्य नामों से कहा जाता है उसका आशय यही है कि यह शरीर और कर्मविशिष्ट जीव की पर्याय शुद्ध जीव की नहीं है और सदैव रहनेवाली नहीं है । इसलिये वह जीव का स्वस्वरूप नहीं है, बस इसी दृष्टि से व्यव-हार को मिथ्या कह दिया जाता है, किंतु शास्त्रों के रहस्य को नहीं समझनेवाले व्यवहार को सर्वथा मिथ्या मानते है । वे संसारी जीव की कर्म और शरीरविशिष्ट पर्याय को झूंठा समझ रहे है । वे यह समझते है कि आत्मा को परद्रव्य से कभी कोई सबध नहीं हो सकता है । शरीर और कर्म आत्मा के साथ नहीं बधे हैं, आत्मा भिन्न है, शरीर और कर्म भिन्न है । बस यही समझ अधकचरी और मिथ्या है । शरीर और आत्मा निश्चय दृष्टि से जुदे है, दोनो का लक्षण भिन्न है, परन्तु उनका वर्त्तमान स्वरूप मिश्रित रूप में नीरक्षीरवत् मिला हुआ है । इतना ही नहीं है किंतु इतना घनिष्ठ दोनो का एकीभाव बन गया है कि आत्मा के गुणों का घात (आच्छादन) कर्मों के द्वारा हो रहा है । कर्म भी विकारी जीव के द्वारा अपना रूप बदल चुके है । इसी बात को

आचार्यों ने कहा है—

बंधः परगुणाकारा क्रियास्यात्पारणामिकी
तस्यां सत्यामशुद्धात्वं तद्योः स्वगुणच्युतिः
पंचाध्यायी (उत्तर भाग) पृष्ठ ४६, श्लोक १३०

इसका आशय यही है कि पुद्गल और जीव दोनों का परगुणाकार परिणाम होने से दोनो मे अशुद्धता आती है और दोनो अपने स्वरूप से च्युत हो जाते है। यही बात सर्वार्थसिद्धि में कही गई है:—

बंधं पडिएयत्तं लक्खणतो हवइ तस्सणाणत्तं
तम्हा अमुत्तिभावो णेयतो होइ जीवस्स
—सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ६४

अर्थात् आत्मा और कर्म दोनों बधकर एकीभाव जैसे घनिष्ट हो गये है, इसलिये जीव को कथचित् मूर्त्त भी कहा जाता है, परन्तु आत्मा चेतन है, पुद्गल कर्म जड है, इस लक्षण, दृष्टि से वे दोनो भिन्न-भिन्न है, इस भिन्न दृष्टिसे आत्मा कथंचित् अमूर्त्त है। इसलिये निश्चयनय को समझने के लिये वस्तु का यथार्थ रूप और मिश्रित पर्याय का ध्यान रखना होगा। केवल निश्चय या केवल व्यवहार-दृष्टि को ही वस्तु-स्वरूप समझनेवाले वास्तव मे मिथ्यादृष्टि वाले होते है।

यही बात आचार्य अमृतचद्र सूरि ने कही है—

व्यवहारनिश्चयौ य प्रबुध्यतत्वेन भवतिमध्यस्थः
प्राप्नोति देशनामाः स एव फलमविकल शिष्यः पुरुषार्थसि

अर्थात् जो व्यवहार और निश्चय दोनों को भले प्रकार समझकर मध्यस्थ बन जाता है, वही शिष्य उपदेश का पूर्ण फल प्राप्त कर लेता है।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्तय भूतार्थं
भूतार्थबोध विमुखः प्रायः सर्वोपि संसारः पुरुषार्थसि

इसका आशय यह है कि लौकिक जन निश्चयनय को यथार्थ और व्यवहारनय को अयथार्थ कहते हैं, परन्तु वास्तविक बोध से संसार प्रायः विमुख हो रहा है। दोनों नयों की सापेक्षता से ही वस्तु-स्वरूप की सिद्धि होती है।

इसके विपरीत जो एक नय को ही पकड़कर वस्तु-स्वरूप समझता है वह ऐकांती है और वह उपदेश देने या ग्रहण करने का पात्र नहीं ठहरता है।

आचार्य अमृतचंद्र सरि ने इसी आशय को और भी स्पष्ट किया है—ःउभय णय विभणियं जाणइ णवरंतु समयपडिवद्धो णदु णयपक्खं गिण्हदि किंचिविणयपक्ख परिहीणो-पञ्चाध्यायी
पृष्ठ १६१, गाथा १

इसका आशय यही है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष व्यवहार-निश्चय दोनो नयो को जानता है किन्तु किसी एक नय-पक्ष को ग्रहण नहीं करता है। वह नयो के पक्षपात मे रहित होता है।

आगे पचाध्यायी मे यह विचार किया गया है कि व्यवहार-नय को अयथार्थ क्यों कहा गया है,तो उसका समाधान ग्रन्थ-कार ने यह किया है कि यद्यपि व्यवहारनय ने न तो द्रव्य का अभाव बताया है और न गुण या पर्याय का लोप किया है जो द्रव्य का स्वरूप है। जिसे निश्चयनय बताता है वही व्यवहार ने बताया है, कोई विपरीत या अन्यथा प्रतिपादन नहीं किया है। केवल उसने 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस तत्वार्थसूत्र के अनुसार द्रव्य को गुण-पर्यायवाला बताया है, कोई असत्य बात कुछ

नहीं बताई है। परन्तु द्रव्य गुण पर्याय ये भेद-व्यवहार कहता है और वस्तु-तादात्म्य रूप अखड एव अनिर्वचनीय है। गुण पर्याय द्रव्य ये जुदे-जुदे नहीं है निर्विकल्प है। व्यवहार शब्दो द्वारा भिन्न-भिन्न बताने की विवक्षा करता है। बस यही उसकी अयथार्थता का बीज है परन्तु इसके आगे निश्चयनय को भी अयथार्थ बता दिया है, क्योंकि वह भी तो अनिर्वचनीय रूप विकल्प को कहता है। इसलिये अत्यन्त सूक्ष्म शब्द के अगम्य जो कुछ भी वस्तु-स्वरूप है वह निश्चयनय से भी अगम्य बोध है। इस विचार-विमर्श से निश्चय व्यवहार दोनो ही अयथार्थ ठहरते है; अतः अपेक्षा और विवक्षा एव गौण और मुख्य इन विकल्पो को ध्यान मे लेने से दोनो ही नय प्रमाणभूत है। इसी बात को पंचाध्यायीकार ने खुलासा किया है: —

नैवं यतोवलादिह विप्रतिपत्तौ च संशया पत्तोवस्तुविचारे यदि वा प्रमाण मुभयावलम्बितदूज्ञानम्।

—पचाध्यायी पृष्ठ १८८, श्लोक ६३८

अर्थ—किसी वस्तु-स्वरूप मे विवाद होने पर अथवा सशय होने पर अथवा निर्विकल्पक होने पर भी उस वस्तु का क्या स्वरूप है, चेतन है, अचेतन है, गुण-पर्यायात्मक है या और ही प्रकार है, ऐसा वस्तु-विचार खड़ा हो जाने पर व्यवहारनय का सहारा लेना ही पडता है। उसकी सहायता लिये विना वस्तु-सिद्धि नहीं हो सकती है। इसीलिये निश्चय और व्यवहार दोनो का अवलबन (आश्रय) रखनेवाला ज्ञान ही प्रमाण है।

कितना स्पष्ट एव युक्तियुक्त निरूपण है। परंतु कानजी स्वामी व्यवहार-दृष्टि को विपरीत दृष्टि एव मिथ्यादृष्टि सर्वथा बता रहे है। यह समझ ही वास्तव मे विपरीत एव मिथ्या है।

'समयसार' मे व्यवहारनय की उपादेयता

विना व्यवहारनय के भयकर हानि

भगवत्‌कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' में व्यवहारनय की उपादेयता और परम आवश्यकता बताई है। विना व्यवहारनय के जीवो की हिंसा में प्रवृत्ति हो जायगी और मुक्ति की प्राप्ति की आवश्यकता किसी को नहीं रहेगी।

ववहारस्स दरीसण मुवएसो वरिणदो जिणवरेहि
जीवा ऐदे सव्वे अज्भवसाणा दओभावाः

—समयसार पृष्ठ २६, गाथा ५१

इस गाथा का स्पष्ट अर्थ तात्पर्यवृत्ति टीका मे उसके रचयिता आचायवर्य जिनसेनाचार्य ने इस प्रकार किया है:—

"यद्यप्यय व्यवहारनयः वहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेना भूतार्थ स्तथापि रागादि वहिर्द्रव्यावलम्बनरहित विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव स्यावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वात् दर्शयितु मुचितोभवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तथा शुद्ध निश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीतिमत्वातिः शंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः ततश्च पुण्यरूपधर्माभावः इत्येकं दूषणम्। तथैव शुद्ध नयेन रागद्वेष मोहरहिताः पूर्वमेवमुक्तो जीवस्तिष्ठतीतियत्वा मोक्षार्थ मनुष्ठानं कापि न करोति ततश्च मोक्षाभाव—इति द्वितीयञ्च दूषणम्। तस्माद्व्यवहारनय व्याख्यानं उचितं भवतीति अभिप्रायः"

—तात्पर्यवृत्ति

इसका अर्थ यह है कि व्यवहारनय वहिर्द्रव्य का अवलंबन करता है इसलिये इस नय को अभूतार्थ कहा जाता है। तथापि जो बाह्य द्रव्य के अवलंबन से रहित विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव का अवलबन सहित जो परमार्थ आत्मस्वरूप है उसका प्रतिपादक भी व्यवहार ही तो है, इसलिये उसका उपदेश देना आवश्यक है। अर्थात् विना व्यवहारनय के विशुद्ध जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन सहित है, वह रागादि भावो से रहित है, यह कौन बता सकता है? विना व्यवहारनय के कोई नहीं बता सकता। अतः व्यवहारनय की उपादेयता है।

दूसरी बात व्यवहारनय के मानने मे और उसकी आवश्यकता मे यह है कि—

यदि व्यवहारनय नहीं होता तो शुद्ध निश्चयनय से सभी जीव शुद्ध मानने पड़ते। फिर त्रस स्थावर ससारी जीव नहीं माने जाते तो उनकी हिंसा सभी लोग विना किसी शका एव पाप-भय के करते तो पुण्यरूप धर्म का (जीव-दया से होनेवाला पुण्यरूप धर्म का) अभाव ही हो जाता। यह बहुत बडा दूषण होता।

इसी प्रकार व्यवहारनय को नहीं मानने से दूसरा बड़ा भारी दूषण यह होता कि शुद्ध निश्चय नय से सभी जीव राग-द्वेष मोह रहित पहले से ही (सदैव से) मुक्त या सिद्ध समझे जाते; फिर मोक्षप्राप्ति के लिये वस्त्रादि का त्याग करना, पचमहाव्रत धारण करना, केशलोच करना, पीछी-कमंडलु रखना, पंचसमितियों का पालन करना आदि अनुष्ठान (प्रमादरहित शुद्ध क्रियाओ का पालन) कोई नहीं करता तब मोक्ष का ही अभाव हो जाता। इसलिये व्यवहारनय का व्याख्यान जिनेद्र भगवान ने किया है।

कानजी स्वामी का विपरीत कथन

ऊपर व्यवहारनय की सिद्धि और उसकी मान्यता को कितने महत्त्व एवं युक्तिपूर्ण हेतुवाद से आचार्य ने बताया है। इससे उन लोगो की आंखें खुल जानी चाहिये जो केवल निश्चय पर डटे हुए हैं और व्यवहार को सर्वथा असत्य मानकर आत्मा की वर्त्तमान संसारी पर्याय का और व्रताचरण, तपश्चरण आदि मोक्ष मार्ग का सर्वथा लोप ही कर रहे हैं।

सर्वज्ञदेव ने बताया है कि एक निगोदिया जीव के शरीर में अनंतानत निगोदराशि भरी हुई है जो सिद्धराशि से और समस्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालो के समयों से भी अनंत गुणित है। यथा—

> एक णिगोदसरीरे जीवा दव्वपमाणदो सिद्धा
>
> सिद्धेंहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण।
>
> —गोम्मटसार

एकेंद्रियादि पचेंद्रिज तक ससारी जीवो के भेद कोई अवस्तु या भ्रमरूप असत्य नही है, वास्तविक है, यथार्थ हैं। निश्चयनयभी मिथ्या है।

निश्चयनय केवल आत्मा के शुद्ध-रूप सिद्ध स्वरूप को ही विषय करता है, वह रागद्वेष सहित जीव की अशुद्ध आत्मा को विषय नहीं करता है। यदि व्यवहारनय को सर्वथा मिथ्या या असत्य मान लिया जाय तो ये जीवों के ससार-अवस्था के भेद और रागादि वभाविक भाव भी मिथ्या और केवल भ्रम-

रूप ठहरते हैं, परंतु वे सब भेद सर्वज्ञ ने बताये हैं और यथार्थ है। निश्चयनय उन्हे मानता ही नहीं है तो अशुद्ध जीवों का वर्त्तमान सर्वज्ञ प्रत्यक्षगत वस्तु-स्वरूप (विभाव-पर्याय) का अभाव ही मानना पडेगा। तब पूरा वस्तु-स्वरूप छोड़ देने से निश्चयनय भी मिथ्या ही ठहरेगा। इसलिये निश्चयनय व्यवहार की अपेक्षा रखकर ही अपने शुद्ध वस्तु स्वरूप का निरूपण करता है। दोनों नयो की सापेक्षता ही विभाव-स्वभावरूप जीव की समस्त पर्यायो का ग्रहण करती है। इसीका नाम प्रमाण है। यही आचार्यों ने कहा है: —

अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः
निरपेक्षानया. मिथ्या सापेक्षाः वस्तुतेऽर्थकृत्

—न्यायदीपिका

अर्थात् प्रमाणनयो मे सिद्ध होनेवाला अनेकांत भी अनेकांत है। यदि प्रमाण के एक देश को निश्चयात्मक केवल स्वभाव पर्याय को या केवल व्यवहारात्मक विभाव-पर्याय को ग्रहण करनेवाले निश्चय और व्यवहार नयों को परस्पर सापेक्ष नहीं माना जाय, एव केवल निश्चयनय को या केवल व्यवहारनय को ही एकांत रूप से पकडकर प्रतिपादन किया जाय तो वह कथन मिथ्या एवं वस्तु-स्वरूप से विरुद्ध ठहरेगा, क्योंकि वस्तु के एक देश को ही एक नय जानता है। इसलिये निरपेक्ष नय मिथ्या हैं और परस्परसापेक्ष नय—निश्चय, व्यवहार की अपेक्षा रखकर वस्तु का ग्रहण करेगा तो समस्त वस्तु स्वरूप का (विभाव-स्वभाव) ग्रहण हो जायगा इसीका नाम प्रमाण है। विभाव-स्वरूप आत्मा ससारी है, निश्चय स्वरूप आत्मा मुक्त है। संसारी और मुक्त दोनो अवस्थाएं आत्मा की अशुद्ध-शुद्ध पर्याये हैं। वे यथार्थ है। यही

बात 'समयसार' में भगवान् कुंदकुंद स्वामी ने और उस समयसार की संस्कृत टीका बनानेवाले आचार्य जिनसेन और आचार्य अमृतचंद्र सूरि ने बताई है।

कानजी स्वामी यदि प्राकृत संस्कृत के आशय को समझते होते तो वे 'समयसार' मे कही गई दोनो नयों पर दृष्टि रखकर ही अपना प्रवचन करते, परंतु उन्होने केवल उपादान पर दृष्टि रक्खी है और उसीको अपने भावो का कर्त्ता माना है। परंतु निमित्त कारण को अपनी क्रिया द्वारा विना दूसरे द्रव्य में स्वय का गुण परिणमन किये केवल बाह्य रूप से भी कार्य-सिद्धि मे साधक कर्त्ता नहीं माना है। बस यही उनका एकांत एवं दिगम्बर जैन-शास्त्रो के विपरीत प्रवचन है।

कानजी स्वामी का 'समयसार' सुनिये

ऊपर भगवान् कुंदकुंद स्वामी का 'समयसार' तो आप पढ़ चुके है जिसमे व्यवहारनय की आवश्यकता और उपयोगिता बताई गई है। परंतु अब कानजी स्वामी का समयसार' पढ़ लीजिये.—

वे कहते हैं कि व्यवहारनय तो सर्वथा मिथ्या है। वह असत्य है। जीव कर्मों के उदय से संसार मे भ्रमण नहीं करता है। कर्म जड़ है, वे जीव का कुछ भी नहीं कर सकते है। आत्मा पर केवलज्ञानावरण कर्म का कोई आवरण नहीं है वह त्रिकाल सर्वज्ञ है। इसी प्रकार वे यह भी कहते हैं कि शरीर जड़ है, आत्मा उससे सदैव पृथक् (भिन्न) है। ऐसी अवस्था मे किसी जीव की रक्षा कोई जीव नहीं कर सकता है। कोई किसीको मार नहीं सकता है, आत्मा से जड़ शरीर को पृथक् कर देने में

हिंसा मानना ही मिथ्यात्व है। मैं जीव को बचाऊं, उस पर दया-भाव रक्खू, यही विकल्प मिथ्यात्व और हिंसा है।

यह है स्वामी कानजी का "समयसार" जो सर्वथा "समयसार" के कथन से विपरीत है। उनका उपर्युक्त सबमन्तव्य हिंसा-अहिंसा के प्रकरण मे खुलासा किया जाचुका है, उसे पाठक वहां पढ़ें। "समयसार" केवल आत्मा के शुद्ध रूप की दृष्टिमे आत्माको केवल ज्ञानी और शरीर से पृथक् बताता है परंतु "समयसार" वर्त्तमान जीव की अशुद्ध अवस्था मे केवलज्ञान नही मानता है। और न शरीर को जड बताकर जीवो की हिंसा को मिथ्या और असत्य बताता है। इसी बात को कुंदकुंद स्वामी ने ऊपर की 'समयसार' की गाथा मे कहा है और दूसरे उन्होंके रचे हुए रयणसार, मूलाचार आदि ग्रन्थो मे कहा है।

अब पाठक अच्छी तरह समझ चुके होगे कि कानजी स्वामी का समस्त प्रवचन दिगम्बर जैन आगम के सर्वथा विरुद्ध एवं अग्राह्य है।

यह बात मै बार-बार कह चुका हूँ कि एक द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में नहीं जा सकते हैं, वह असंभव है। एक द्रव्य अपनी क्रियात्मक पर्याय भी स्वयं करता है। उसे पर-द्रव्य नहीं करता है, इसीलिये अपने गुण और पर्याय के परिणमन का कर्त्ता स्वय वही द्रव्य है परंतु बिना दूसरे द्रव्य मे गुण प्रदान और उसके क्रिया परिणमन को किये निमित्त कारण केवल बाह्य से अपने क्रियात्मक और अक्रियात्मक परिणमन से दूसरे द्रव्य के गुणो के विकास मे, उसकी क्रिया में और उसके गुणो, आच्छादन आदि उपादान कार्यों मे सहायक साधन अवश्य होता है। बिना निमित्त की सहायता के उपादान मे होनेवाला कोई

भी परिणमन या कोई भी कार्य कभी नहीं हो सकता है। विना निमित्त के उपादान में कार्य-सिद्धि असंभव है। धर्म, अधर्म, काल आकाश ये चार द्रव्य जीव पुद्गल के परिणमन मे उदासीन रूप से निमित्त मात्र सहायक हैं। बिना उनके जीव पुद्गल का गमन करना, ठहरना आदि सब असंभव है। और कोई प्रेरक कारण हैं जैसे घट बनने मे मिट्टी की क्रिया मिट्टी में ही होती है और मिट्टी के गुण ही घट मे आते हैं, उन्हे (मिट्टी की क्रिया और मिट्टी के गुणों को) कुम्हार नहीं करता है, परंतु कुम्हार अपने हाथो की क्रिया से मिट्टी की घट बनने रूप क्रिया मे सहायता अवश्य देता है। विना कुम्हार के हाथों की क्रिया हुए मिट्टी घट बनने रूप अपनी क्रिया को स्वय कभी नहीं कर सकती है, वह असंभव है। इसलिये बाह्य सहायक होने से घट का कर्त्ता कुम्हार भी कहा जाता है जो यथार्थ और सत्य है। परंतु कानजी स्वामी इस वस्तु-तत्त्व को समझ नहीं पाये हैं। वे यदि एक-दो न्याय के ग्रन्थो को पढ़ लेवे तो उनकी समझ मे यह उपादान-निमित्त का वास्तविक रूप सब समझ में आजायगा। विना समझे उनके एकान्त विपरीत प्रवचन से व्यवहार, धर्म देव, शास्त्र, गुरु का निमित्त व्यर्थ एवं मिथ्या ठहरता है और जीवो की हिंसा करने मे भी कोई दोष नहीं आता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये व्रताचरण, तपश्चरण आदि भी निःसार एवं व्यर्थ ठहराये जाते हैं क्योंकि उन बाह्य क्रियाओ से आत्मा का लाभ नहीं है ऐसा कानजी स्वामी का मन्तव्य है। इन सब बातों को मै भिन्न-भिन्न प्रकरणों मे इसी ट्रैक्ट में लिख चुका हू, कानजी स्वामी का मन्तव्य भी उद्धृत कर चुका हूं, पाठकगण पूरा ट्रैक्ट ध्यान से पढ़ लेवें।

निश्चय व्यवहार नयो के विषय मे आत्मख्याति प्रवचन-सार, मूलाचार, भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि आदि अध्यात्म-

ग्रन्थो मे और अष्टसहस्री, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि दर्शन-ग्रन्थों मे बहुत विस्तार से कथन किया गया है।

व्यवहार की सत्यता और निमित्त की सहायता का ज्वलत प्रमाण

जो लोक और सर्वज्ञ प्रत्यक्ष स्वरूप निश्चयात्मक है

श्री कानजी स्वामी व्यवहार को तो सर्वथा असत्य (झूंठा) बताते है, और निमित्त उपादान के कार्य मे कुछ भी नहीं कर सकता है ऐसा कहते है। इन दोनों के विषय मे लोक-प्रत्यक्ष सर्वज्ञ-प्रत्यक्ष प्रमाण नीचे दिया जाता है:—

जंबूद्वीप मे दो सूर्य दो चन्द्र हैं। सूर्य सुदर्शन मेरु (सुमेरु पर्वत) को ११२१ योजन छोड़कर उसके चारो ओर प्रदक्षिणा देता रहता है। जब वह पश्चिम दिशा मे घूमता हुआ चला जाता है तब उसका अस्त माना जाता है, तब रात्रि हो जाती है, जब उदयाचल पर घूमकर आता है तब दिन हो जाता है। गोम्मटसार की—

तिण्णिसय सट्ठि विरहिद लक्खं दस मूल ताडिदे मूलं
णवगुणिदे सट्ठि हिदे चक्खु प्फासस्स अद्धाण

इस गाथा के अनुसार जब सूर्य निषधाचल पर नवमुहूर्त्त पर आता है तब भरत चक्रवर्ती-आदि चक्रवर्ती-अपने विशाल एव निर्दोष नेत्रों से अयोध्या से सूर्यस्थ जिनेन्द्र बिम्ब का दर्शन करते हैं। उसी प्रमाण से चक्षु द्वारा देखने का क्षेत्र कुछ अधिक ४७,२६३ योजन-प्रमाण शास्त्रो मे बताया गया है। इसके लिये जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोय पण्णत्ति, गोम्मटसार

आदि ग्रन्थ प्रमाण हैं (कानजी स्वामी तो नेत्रो से देखना ही नहीं मानते है)।

यह भी समझ लेना चाहिये कि सूर्य का विमान स्वयं ठंडा है, वह उष्ण (गरम) नहीं है, किंतु उसकी किरणे जब पदार्थों से सम्बन्ध करती हैं तब उन किरणों के निमित्त कारण से ही पदार्थ गरम हो जाते हैं। तभी पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी सताप का अनुभव करने लगते हैं। सूर्य स्वयं ठडा है, इसका प्रमाण—"मूलुण्ण पहा अग्गी आदाओ होदि उण्णस हियपहा" इस गोम्मटसार की गाथा से स्पष्ट है।

महाशास्त्र तत्वार्थसूत्र के ये सूत्र—

"मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके"

"तत्कृतः कालविभागः"

"बहिरवस्थिताः"

प्रमाण है। इनका अर्थ यही है कि सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष-चक्र निरंतरस दैव मेरु की प्रदक्षिणा देता रहता है। सूर्य के भ्रमण के कारण ही दिन और रात का व्यवहार होता है। ढाई द्वीप के बाहर सूर्य आदि का भ्रमण नहीं होने से दिन-रात का भेद भी नहीं है। यह सब करणानुयोग शास्त्रों का विषय है। करणानुयोग वस्तु-स्वरूप को यथार्थ बताता है। वैसे चारो ही अनुयोग अपने-अपने विषय मे वस्तु-स्वरूप-परिचायक एव प्रमाणभूत हैं।

अब इस उपयुक्त प्रकरण के संबंध मे कानजी स्वामी से यह प्रश्न है कि यदि आपके मन्तव्य के अनुसार व्यवहार सब मिथ्या है तो सूर्य के संचार से दिन-रात का भेद

जो सर्व-प्रत्यक्ष है वह मिथ्या है क्या ? अथवा "तत्कृतः कालविभाग" इत्यादि सूत्र अप्रमाण हैं क्या ? यह बात मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि सूर्य के उदय होते ही प्रकाश होता है और उसके अस्त होने पर अंधकार फैल जाता है तथा सूर्य के चारक्षेत्र और केतु के चारक्षेत्र मे अंतर आने से सूर्य-ग्रहण पड़ जाता है। अर्थात् शुक्लमणिवाला सूर्य-विमान नील-मणि वाले केतु विमान के नीचे आजाने से आच्छादित हो जाता है। उसीका नाम ग्रहण है। आप इस व्यवहार को और इस निमित्त कारण को मिथ्या बता रहे हैं। इसी प्रकार यह बात भी मनुष्य पशु, पक्षी, प्रत्यक्ष अनुभव करते है कि सूर्य के तीव्र संताप से मध्य दिन मे तीव्र सताप होता है। जैसा संताप ज्येष्ठ मास मे होता है वैसा पौष-माघ मास मे नहीं होता है। इसका कारण सूर्य का तीव्र किरण-समूह ही है। यह शास्त्रसिद्ध और सर्व जगत् के प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। केवली भगवान् भी इन सब निमित्त कारणजन्य कार्यों का प्रत्यक्ष करते है और प्रतिपादन करते हैं। इसलिये यह सब निश्चयात्मक वस्तु-स्वरूप है। यदि दिन-रात के व्यवहार को और सूर्य के भ्रमण निमित्त और किरणजन्य संताप निमित्त को मिथ्या समझ लिया जाय तो गोम्मटसार, तत्वार्थसूत्र, तिलोयपण्णत्ति जंबूद्वीप पण्णत्ति राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि सभी आगम शास्त्र मिथ्या ठहरते हैं। भरत चक्रवर्ती आदि द्वारा सूर्यस्थ जिनबिम्बदर्शन और उसके निमित्त से नेत्रेंद्रिय का विषय-क्षेत्र भी मिथ्या ठहरता है। जबकि कानजी स्वामी निमित्त को अकिंचित्कर और व्यवहार को मिथ्या कहते है फिर तो जगतप्रसिद्ध प्रत्यक्ष बातों का लोप मानने से दिगम्बर जैनसिद्धान्त

वेदान्तवाद के समान मिथ्यैकान्त ठहरेगा। वेदान्तवाद एक परमब्रह्म के अतिरिक्त मनुष्य पशु, पक्षी, मकान, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि सभी प्रत्यक्ष पदार्थों का अभाव मानता है। उसी प्रकार कानजी स्वामी आगमसिद्ध एवं प्रत्यक्षसिद्ध बातों का लोप कर रहे हैं। कानजी स्वामी के मन्तव्य को ठीक समझनेवाले अजैन विद्वान् जैनदर्शन को निःसार ही समझेंगे। इन सब बातो पर कानजी स्वामी को स्वमत-पोषण एव प्रचार-दृष्टि को छोडकर जिज्ञासा, तत्वदृष्टि एवं आगम के दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिये। वे यह बुद्धि हटादे कि हम जो जानते हैं या कहते है वह सब ठीक है। उनके मन्तव्यों को देखने-जानने से तो विदित होता है कि वे अभी दिगम्बर जैनधर्म में प्रविष्ट ही नही हुए हैं एव दिगम्बर जैन-सिद्धान्त के स्वरूप से सर्वथा अनवगत है। अधिक कहां तक लिखा जाय।

श्री कानजी स्वामी के और भी शास्त्र-विपरीत मन्तव्य

मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनो सदैव प्रत्यक्ष रहते हैं

इस पुस्तिका मे छह बातो पर विचार किया गया है जिन्हे कानजी स्वामी शास्त्र-विपरीत रूप में प्रतिपादन करते है। उक्त छह बातों के अतिरिक्त भी वे सभी बातें विरुद्ध ही कहते हैं। इस छोटे-से ट्रैक्ट मे कहां तक दिग्दर्शन कराया जाय। फिर भी एक दो बातें उनकी और भी यहां लिखी जाती हैं।

देखिये, केवलज्ञान के विषय में स्वामीजी क्या कहते हैं।

पढ़िये—

"केवलज्ञान कभी भी सम्पूर्णतया आवृत्त नहीं होता, क्योंकि यदि ज्ञान सम्पूर्णतया आवृत्त हो जाय तो ज्ञान का अभाव हो जाय और ऐसा होने से जीव को जड़त्व का प्रसंग आजाय, किंतु ऐसा होना अशक्य है अर्थात् केवलज्ञान का अमुक भाग (अंश) तो जीव की चाहे जिस अवस्था के समय भी खुला होता है।"

"केवलज्ञान पूर्ण स्वरूप है और मतिज्ञान अधूरा ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान का अंश है। जिसका एक अंश प्रत्यक्ष है वह अंशी भी प्रत्यक्ष ही है। एक अंश प्रत्यक्ष हो और अंशी प्रत्यक्ष नहीं हो, यह नहीं हो सकता है। इस प्रकार मतिज्ञान केवलज्ञान का अंश होने से अंशप्रत्यक्ष है, वह अंशी भी प्रत्यक्ष ही है। इस न्याय के अनुसार मतिज्ञान में केवलज्ञान प्रत्यक्ष ही है।"

आ० ध० पृष्ठ १११, अंक ७, वर्ष २

विद्वान् लोग कानजी स्वामी की ऊपर की पंक्तियों को ध्यान से पढ लें। क्या यह दिगम्बर जैनशास्त्रों की मान्यता है? पहले तो स्वामीजी कर्मों का आत्मा पर कोई असर नहीं मानते है तब केवलज्ञान के एक अंश को आवृत्त (ढका हुआ) बताना ही उनके कथन में पूर्वापर विरोध आता है। फिर यह योग्यता का प्रश्न है, छोड़िये इस प्रपंच को। यहां पर इस बात का विचार करना है कि केवलज्ञान को मतिज्ञान में स्वामीजी प्रत्यक्ष बता रहे हैं और यह भी कह रहे हैं कि अंशप्रत्यक्ष होने से मतिज्ञान भी प्रत्यक्ष है। यह स्वामीजी की 'समयसार' में से निकाली हुई एक नयी खोज है। समस्त शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है कि 'आद्ये-परोक्षम्", "प्रत्यक्षमन्यत्" इस तत्वार्थसूत्र के अनुसार आदि के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्ष है और

अवधि तथा मनःपर्यय ये दोनो एकदेश प्रत्यक्ष है, तथा केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है ।

" तदिंद्रियानिंद्रिय निमित्तम् " इस तत्वार्थसूत्र के अनुसार मतिज्ञान इंद्रिय मन की सहायता से होता है, इसलिये वह परोक्ष माना गया है । जो बिना किसीकी सहायता के स्वय आत्मा से ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष माना गया है । यही बात राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि सभी ग्रन्थो मे स्पष्ट लिखी है । इसलिये स्वामीजी का मतिज्ञान को प्रत्यक्ष बताना सर्वथा शास्त्र-विपरीत है ।

दूसरी बात उनकी यह भी शास्त्र-विरुद्ध केवल कोरी युक्ति-शून्य कल्पना है कि केवलज्ञान एक अश मे खुला रहता है । नहीं खुला रहे तो आत्मा जड़ बन जायगा ।

स्वामीजी को उनके शिष्य श्रुतकेवली भी कह देते हैं । उनके ज्ञान का यह नमूना है । उन्हें अभी इतना भी बोध नहीं है कि केवलज्ञान तो ज्ञानगुण की शुद्ध पर्याय है । केवल-ज्ञान गुण नहीं है । इसलिये उस पर्याय के अभाव मे आत्मा जड कैसे बन जायगा ? ज्ञानगुण तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान पर्याय मे आत्मा मे सदैव रहता है । उसे तो " णिच्चुघाट णिरावरणं" गोम्मटसारकार ने निरावरण ज्ञान बताया है । उर्वक आदि भेदो से उसके अशो के अविभाग प्रतिच्छेदो का उन्होने पूरा बहुत स्पष्ट वर्णन किया है । फिर उन्हे यह भी सोचना चाहिये कि एक समय मे एक ही पर्याय होती है । एक गुण की दो पर्यायें एक साथ कैसे हो सकती हैं ? जब ज्ञान गुण है तब उसमे उपयोगात्मक मतिज्ञान और केवलज्ञान दोनो पर्याये एक साथ कैसे हो सकती है । फिर मतिज्ञान अशुद्ध

पर्याय है । केवलज्ञान पूर्ण शुद्ध पर्याय है । जहां पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रगट हो जाता है वहां अशुद्ध पर्याय उसी समय मे एक साथ कैसे हो सकती है ? यथा—

स्यादेतन्नाभावः क्षायोपशमिकानां ज्ञानानां केवलिनि ? तन्न किं कारण क्षायिकत्वात् । संक्षीणसकल ज्ञानावरणे भगवत्यर्हति कथं क्षायोपशमिकानां संभवः । नहिपरि प्राप्त सर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाऽशुद्धिरस्ति । —राजवार्तिक पृष्ठ ६३

अर्थ—केवलज्ञान मे क्षायोपशमिक ज्ञान रहते हैं । इस शंका के उत्तर मे आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञानावरण कर्म के पूर्ण क्षय हो जाने से अर्हंत के क्षायोपशमिक ज्ञानो का सम्भव नहीं है । जहां सर्व शुद्धता है वहां अशुद्धता को स्थान नहीं हो सकता है । तीसरी बात यह भी उन्हे समझ लेना चाहिये कि केवलज्ञानावरण कर्म सर्वघाति स्पर्धक वाली प्रकृति है । मतिज्ञानावरण प्रकृति देशघाति प्रकृति है । सर्वघाति प्रकृति अपने विरोधी गुण का पूर्ण रूप से घात करती है तब केवलज्ञान स्वामीजी के कथनानुसार एक अश मे सदैव कैसे खुला रह सकता है ? फिर यह भी स्वामीजी की समझ मे नहीं आया कि केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है, मतिज्ञान क्षयोपशय ज्ञान है । जब दोनो एक साथ रहेंगे तो अल्पज्ञान और सर्वज्ञान एक साथ मानना पड़ेगा जो सर्वथा असम्भव है । क्षयोपशय ज्ञान क्रमवर्ती है, केवलज्ञान युगपत् जाननेवाला है । केवलज्ञान का विषय "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" इस तत्वार्थसूत्र के अनुसार सर्व द्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्याये है । जो जिसका लक्षण है वह उसमे रहना चाहिये । यदि मतिज्ञान मे केवलज्ञान रहता है तो वह सर्व प्रत्यक्ष ही होगा और मतिज्ञान अल्प एव परोक्ष ही होगा । दोनों विरोधी पर्याये एक साथ कभी सम्भव नहीं हैं । इन बातों के प्रमाण मे राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थ भरे पड़े हैं, यहां

प्रमाण कहां तक दिये जायं ? स्वामीजी केवलज्ञान को अंशी और मतिज्ञान को अंश बता रहे हैं, परन्तु ऐसा भी नहीं है । विरोधी दो पर्यायें अंश-अंशी नहीं हो सकते हैं । किंतु आत्मा अंशी और ज्ञानगुण एवं उसकी पर्यायें अंश हैं, अथवा ज्ञानगुण अपनी पर्यायों के लिये अंशी है। अतः ज्ञानगुण का मतिज्ञान अंश है, केवलज्ञान का अंश नहीं है जैसा कि स्वामी जी कहते है। और दोनों ज्ञान एक साथ रहते भी नहीं हैं । केवलज्ञान जब प्रगट होगा तब पूर्ण रूप से ही प्रगट होगा। अधिक लिखना व्यर्थ है ।

और नयी सूझ का नमूना

श्री कानजी स्वामी कहते है कि—

यदि माना जाय कि ज्ञान इंद्रिय से जानता है तो इसका यह अर्थ होगा कि ज्ञान का विशेष स्वभाव काम नहीं करता। और ऐसा होने पर विना विशेष के सामान्य ज्ञान का ही अभाव हो जायगा । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान इंद्रिय से नहीं जानता । अल्पज्ञान जब अपने द्वारा जानता है तब अनुकूल इन्द्रियां मौजूद होती है किन्तु ज्ञान उनकी सहायता से नहीं जानता। किन्तु यदि यह माना जायगा कि ज्ञान इन्द्रिय से जानता है तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान होगा, क्योंकि इस मान्यता से निमित्त और उपादान एक हो जाता है।

आ० ध० पृष्ठ ४३, अंक ३, वर्ष १

स्वामीजी की पंक्तियों को पढकर कोई भी स्वाध्यायशील विचारवान् पुरुष उनकी उलटी एवं प्रत्यक्षवाधित समझ पर यही कहेगा कि वे वस्तुधर्मों को जानते हैं या नहीं ? वे

अभी तक सामान्य विशेष के स्वरूप को भी नहीं समझ पाये हैं, यह बात उनकी पंक्तियों से सिद्ध होती है। सामान्य-विशेष रूप जानना यह ज्ञान का स्वभाव है, परंतु इंद्रिय तो जानने का साधन मात्र है। सामान्य-विशेष धर्म ज्ञान के है नकि इंद्रियों के। अंधेरे में रखी हुई वस्तु नहीं दीखती है तो उसका ज्ञान भी नहीं हो पाता है। दीपक या सूर्य का प्रकाश होते ही अंधेरा हट जाता है, वस्तु दीखने लगती है, तब ज्ञान अपना जानने का स्वभाव-रूप कार्य करने लगता है। इसका यह अर्थ है कि जानने का काम तो ज्ञान ही करता है। वह कार्य सूर्य या दीपक का नहीं है। सूर्य दीपक का कार्य तो प्रकाश कर देना है, जिससे ज्ञान अपना कार्य कर सके। वह प्रकाश एक साधन मात्र है। इसी प्रकार इंद्रिया भी एक साधन मात्र हैं, वे स्वयं ज्ञान नहीं करती हैं, किंतु झरोखे के समान हैं, वे ज्ञान के लिये साधन मात्र हैं। चश्मा भी यही करता है कि वह पदार्थ को दिखाने में सहायक मात्र है, वह स्वयं नहीं देखता है। जड़ क्या देखेगा? इस बाह्य सहायता से उपादान निमित्त एक कैसे हो सकते हैं? यदि केवल बाहरी सहायता मात्र देने से एक हो जाय तो फिर सशरीर आत्मा मनुष्यतिर्यञ्च, जो पृथ्वी पर चलते हैं, उनके चलने में पृथ्वी को सहारा या आश्रय माना जाता है। तो क्या वह अवलंबन मात्र निमित्त, उपादान आत्मारूप बन जायगा? ऐसी उलटी समझ रखते हुए भी कानजी स्वामी बिना किसी संकोच के इंद्रियों द्वारा ज्ञान माननेवाले उमास्वामि आदि आचार्यों के ज्ञान को मिथ्या ज्ञान बता रहे हैं। यह तो उलटा चोर कोतवाल को डाटने वाली बात है।

शास्त्रों में यह स्पष्ट लिखा है कि एकइंद्रिय जीव केवल स्पर्शन इंद्रिय से जानता है। दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार

इंद्रिय, पांच इंद्रियवाले जीव क्रम से स्पर्शन रसना से, स्पर्शन रसना घ्राण से, स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु से और स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र से पदार्थों को जानते हैं। "तदिंद्रियानिंद्रिय निमित्तम्" यह तत्वार्थसूत्र है। इन्द्रियों के द्रव्येंद्रिय भावेंद्रिय ऐसे दो भेद है। मनरहित को असंज्ञी मनसहित को संज्ञा कहा जाता है। 'श्रुतमनिंद्रिमस्य" यह सूत्र है। तो क्या यह सब शास्त्रों का कथन और विधान मिथ्याज्ञान है या झूठा है या कल्पना मात्र है? और क्या 'समयसार' इन बातों का निषेध करता है? यह इन्द्रिय-सहायक ज्ञान संसारी जीवो को ही होता है। इसलिये निश्चय आत्मा का स्वरूप या स्वभाव नहीं है। परंतु संसारी आत्मा का स्वरूप है, इस बात का निश्चयनय लोप नहीं करता है।

यह प्रत्यक्ष सिद्ध बात भी है कि कोई पुरुष अंधा होजाय तो उसको चक्षुरिंद्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी बाह्य चक्षुरिंद्रिय के विना दीखता नहीं है। आंखे होती हुई भी यदि उन्हे बंद कर दिया जाय तो भी नहीं दीखता है, जैसे दीवालो से बंद मकान मे खडा हुआ पुरुष बाहर की वस्तु को नहीं देख सकता है। इस प्रत्यक्ष बात को भी स्वामीजी नहीं मानते हैं।

स्वामीजी को यह भी समझ लेना चाहिये कि इन्द्रियो से सामान्य ज्ञान होता है विशेष नहीं। इसलिये इन्द्रियजन्य बोध को दर्शन कहा जाता है और विशेष ज्ञान को अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि नामो से कहा जाता है। जैसा कि "जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु मायार अविसेसदूण अत्थे दंसणमिति-भण्ण ये समये" इस द्रव्यसंग्रह के प्रमाण से सिद्ध है। यही बात 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' आदि ग्रन्थो मे विस्तृत रूप से

कही गई है। स्वामीजी को यह भी समझना चाहिये कि अल्पज्ञानियों का सामान्य विशेष रूप बोध क्रम से ही होता है, एक साथ नहीं। जैसा कि "दंसण पुव्व णाणं छदमत्थाणं ण दुण्णि उवयोगा" इस आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती के कथन से स्पष्ट है।

क्रमबद्ध पर्याये—और भी नवीन सूझ

श्री कानजी स्वामी की यह भी एक नवीन सूझ है कि द्रव्यों में अपनी-अपनी क्रमबद्ध ही पर्यायें होती हैं। वे कहते हैं—

"वस्तु की क्रमबद्ध अवस्था में तो कोई अंतर पडेगा ही नहीं किंतु वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है ऐसी श्रद्धा करने मे ही अनंत पुरुषार्थ आजाता है।"

"क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा होने पर अपनी पर्याय के विकास के लिये किसी पर के ऊपर लक्ष्य नहीं रहेगा आदि।"

—आ० ध० पृष्ठ १५१,
अंक १२, वर्ष १

क्रमबद्ध पर्याय का कथन भी कानजी स्वामी का एक नया ही आविष्कार है। उसमे वे उन्हीं सब बातो का समावेश करते हैं कि कर्म कुछ नहीं कर सकता है, देव, गुरु शास्त्र, तीर्थयात्रा, मुनिदान, तीर्थंकर श्रुतकेवली आदि का समागम एवं उससे होनेवाला लाभ कुछ नहीं कर सकता है, आत्मा स्वतंत्र है, वह परपदार्थ की अपेक्षा और परदृष्टि से भिन्न स्वतंत्र ही अपनी स्वभाव-विभाव पर्याये क्रम से धारण करता है। अपने आप बिना किसी परपदार्थ का सहारा या निमित्त

लिये आत्मा केवल स्वतंत्र ही संसार-भ्रमण एवं मोक्ष प्राप्त करता है। उसके लिये तपश्चरण आदि क्रियात्मक व्रताचरण आदि सब व्यर्थ हैं। अधर्म-रूप हिंसादि क्रियाओं की निवृत्ति और धर्म-रूप अहिंसा आदि धर्म-क्रियाओं की प्रवृत्ति आदि सब व्यर्थ है। और भी अनेक बाते वे इस क्रमबद्ध पर्याय के अपने स्वतंत्र मन्तव्य से कहते हैं।

फिर आश्चर्य तो इस बात का है कि वे एक ओर तो क्रमबद्ध पर्यायों का कहते हैं अर्थात जो अवस्थाएं आत्मा मे होती हैं वे सभी क्रम से ही होती हैं ऐसा कहते हैं। साथ ही दूसरी बात वे यह भी कहते है कि क्रमबद्ध पर्यायों की श्रद्धा करने में ही अनत पुरुषार्थ आजाता है।

क्या यह परस्परविरोधी बात नहीं है कि क्रमबद्ध पर्याय और पुरुषार्थ। जब सभी पर्यायें क्रम से ही अपने आप स्वयं होती हैं तो फिर जो होता है सोई होगा, पुरुषार्थ फिर क्यों माना जाता है? उसका फल भी क्या है? दूसरी बात यह भी है जबकि सभी पर्याये स्वयं क्रम से होती है तब कोई भी विवेकी पुरुष मोक्ष प्राप्ति के लिये, आत्मा की पवित्रता के लिये, विशेष सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति के लिये अथवा सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के लिये, गुरु-समागम के लिये एव अधर्म निवृत्ति और धर्म-साधन के लिये प्रयत्न या पुरुषार्थ करता है वह सब व्यर्थ और निःसार माना जायगा या आत्म-सिद्धि के लिये जो पुरुषार्थ या प्रयत्न शास्त्रों मे आचार्यों ने बताये हैं वे सब झूंठे और व्यर्थ ही ठहरते है। फिर तो सभी जीव बराबर ही समझना चाहिये। श्रावक धर्म और मुनिधर्म पालने का प्रयत्न या साधन सब व्यर्थ ही ठहरेगा। स्वामीजी का कथन पढ़ने से तो उनकी दृष्टि में

उपर्युक्त सभी प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसी के लिये तो उन्होंने क्रमबद्ध पर्याय की एक नई खोज निकाली है।

दूसरी बात यह भी है कि शास्त्रकारों ने अनंतानंत कर्मों की निर्जरा के लिये तपश्चरण को प्रधान हेतु बताया है। "तपसा निर्जराच" यह सूत्र है। इस सूत्र के अनुसार निर्जरा के दो भेद हो जाते है -एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। जो निर्जरा कर्मोदय के स्वरस से अपने विपाक-काल मे स्वाभाविक रूप मे होती है उसे सविपाक निर्जरा कहा जाता है। और जो निर्जरा नियत कर्मस्थिति के समय से पहले ही तप के द्वारा कर दी जाती है उसे अविपाक निर्जरा कहा जाता है, जैसे कोई मुनि अपनी घोर तपश्चर्या से तीव्र परीषहों को सहन कर एक हजार वर्ष की स्थितिवाले कर्मों की सत्ता को एक दिन मे या एक मुहूर्त्त मे ही आत्मा से बाहर (निर्जरा) कर देते है। इसीका नाम तो अनंत पुरुषार्थ है। स्वामीजी का अनत पुरुषार्थ और क्रमबद्ध पर्याय क्या है सो वे जाने। यदि क्रमबद्ध ही पर्याय मानी जाय तो अविपाक निर्जरा का लक्षण फिर कैसे बनेगा ? शास्त्रों मे अविपाक निर्जरा को महत्वपूर्ण माना गया है। अस्तु।

क्रमबद्ध पर्याय के विषय मे अब अधिक लिखना मैं नहीं चाहता। यदि इस विषय को विस्तार से लिखूं तो लेख बढ़ेगा ट्रैक्ट दूना बढ़ जायगा तथा विषय भी बहुत सूक्ष्म और कठिन बन जायगा। इसलिये इस विषय को इतना स्वल्प दिग्दर्शन करके ही समाप्त करता हूं।

शास्त्रों के मूल अभिप्राय भी बदले जारहे हैं

श्री कानजी स्वामी ने तत्वार्थसूत्र और समयसार शास्त्रों के अभिप्राय को भी बदल दिया है।

तत्वार्थसूत्र का "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" यह सूत्र है। इस सूत्र मे यह बताया गया है कि सम्यग्दर्शन स्वय भी होता है और परोपदेश से भी होता है। जिस जीव को पहले कभी सम्यग्दर्शन होकर छूट गया हो उसे तो जातिस्मरण, जिनबिम्बदर्शन आदि निमित्तो के द्वारा स्वय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है, किंतु अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को (जिसे पहले कभी भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ है) विना गुरु के उपदेश मिले कभी स्वय सम्यग्दर्शन नहीं होता है। ऐसा एक नियम है।

परतु तत्वार्थसूत्र की जो टीका सोनगढ मे लिखी गई है उसमे उस अधिगमज सम्यग्दर्शन का अर्थ मात्र प्रगट कर यह बात सिद्ध की गई है कि पर के निमित्त से कुछ नहीं हो सकता है। गुरु पर है, उसके उपदेश मे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। सम्यग्दर्शन तो स्वय अपने आप अपनी योग्यता से आत्मा मे प्रगट हो जाता है।

तत्वार्थसूत्र के जिस अभिप्राय को सर्वार्थसिद्धिकार, राजवार्तिककार और श्लोकवार्तिककार आचार्यों ने नहीं बदला। उन्होने सम्यक्त्व के निसर्गज और अधिगमज दोनो भेदो को सर्वज्ञकथित मानते हुए दोनो को परमावश्यक एव नियम-रूप ही सिद्ध किया है। परंतु कानजी स्वामी ने गुरु उपदेश के निमित्त को व्यर्थ सिद्ध करने के लिये सम्यग्दर्शन के अधिगमज भेद को ही अमान्य एव व्यर्थ ठहरा दिया है। क्या यह शास्त्रों का अभिप्राय बदलना नहीं है? और देशनालब्धि जो सम्यग्दर्शन

की प्राप्ति के लिये! क्षायोपशमिक आदि पांच लब्धियों में अनादि मिथ्यादृष्टि के एक परमावश्यक अनिवार्य नियमित लब्धि है उसको वे व्यर्थ एवं अनावश्यक ठहरा रहे है।

इसी प्रकार "परस्परोदीरित दुःखाश्च" आदि सूत्रों के अभिप्राय को भी वे बदल चुके हैं। कारण इन सिद्धान्त-सूत्रों मे परनिमित्त की सहायता स्पष्ट बताई गई है। वे परनिमित्त को साधक मानते नहीं है। इसलिये शास्त्रों के अर्थ को ही बदल रहे हैं। ऐसा करने का उन्हें क्या अधिकार है? भले ही वे स्वतंत्र कुछ भी लिखे परन्तु शास्त्रो के आशय को तो न बदले। यह तो एक असह्य बात है। छठे अध्याय मे जिन-जिन कारणो से ज्ञानावरणादि कर्मों का आस्रव बताया गया है उन सब कारणो को उक्त टीका मे सर्वथा निषेध कर दिया गया है। देखिये—"बाह्य निमित्तो के अनुसार आस्रव या बंध नहीं होता है किंतु जीव स्वयं जैसा भाव करे उस भाव के अनुसार आस्रव बंध होता है।" पृ. ५२४ तत्वार्थसूत्र टीका। यही बात समस्त अध्यायो मे है। अपने मन्तव्यो के अनुसार तत्वार्थ-सूत्र का आशय बदल दिया गया है।

इसी प्रकार 'समयसार' की गाथाओ मे जहां कर्म और जीव का परस्पर हेतुहेतुमद्भाव, कर्तृकर्मभाव एवं साध्यसाधकभाव प्रगट किया गया हैं वहां उन गाथाओं के अर्थ मे कर्मोदय और जीव के विभाव-भावो मे परस्पर एक दूसरे की साधनता को बदल कर केवल अपनी योग्यता से जीव स्वयं राग-द्वेष,विभाव-भाव को प्राप्त कर लेता है, आदि समयसार की गाथाओं के अभिप्राय से विरुद्ध अभिप्राय सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ये सब बाते अत्यन्त अनुचित एवं विद्वानों की दृष्टि मे अग्राह्य एवं

निंद्य हैं। आचार्य कुंदकुंद स्वामी के बताये हुए सिद्धांत में अपने स्वतंत्र विचारों की छाप लगा देना यह बहुत भारी अन्याय है, एवं अक्षम्य है।

मेरा अंतिम वक्तव्य

इस ट्रैक्ट को आद्योपान्त पढ़ने से सबो को यह बात स्पष्ट रूप से विदित हो जायगी कि श्री कानजी स्वामी के सभी मन्तव्य स्वतंत्र हैं, शास्त्रों से सर्वथा विपरीत है। निश्चय-नय भी वस्तु-स्वरूप एवं वर्त्तमान जीव की मिश्रित पर्यायों को शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं मानकर उनकी सत्ता का लोप तो नहीं करती है। व्यवहार से तो वे सब वास्तविक एवं सत्य हैं। व्यवहार का अर्थ भी यही है कि वे जीव की पर्यायें शुद्ध अवस्था में नहीं रहती हैं इसलिये स्थायी एवं केवल स्वस्वरूप नहीं होने से उन्हें जीव की शुद्ध अवस्था की दृष्टि से अयथार्थ कह दिया जाता है। परन्तु श्री कानजी स्वामी तो व्यवहार-दृष्टि से भी जीव के विभाव को कर्मोदयजनित नहीं मानते है और जीव के राग-द्वेष रूप विभाव-भाव से कर्मबंध भी नहीं मानते है। शास्त्रकारों ने "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमाद कषाययोगा बंध हेतवः" इत्यादि विधान एवं सिद्धांत जो शास्त्रों में लिखे हैं वे सब क्या कल्पनात्मक एवं मिथ्या ही हैं? इसी प्रकार धर्म-अधर्म मे प्रवृत्ति करनेवाली जीव की बुद्धिपूर्वक क्रिया को जड़ शरीर की क्रिया बताना, जीवों की रक्षा और दया के भावो को हिंसा बताना तथा जीव-वध को जड़ शरीर से पृथक् होना बताकर हिंसा नहीं मानना इत्यादि सभी बातें स्वामीजी शास्त्रों से विपरीत कहते है और उनका प्रचार करते है। ऐसी दशा मे दिगम्बर जैनधर्म का धारण

करना-कराना क्या प्रयोजन सिद्ध करता है, सो उन्हे और उनके अनुयायियों को सोचना चाहिये।

भगवत्कुंदकुंद स्वामी ने एक समयसार में निश्चय की प्रधानता से निश्चय स्वरूप का कथन किया है तो उसी ग्रन्थ मे उन्होने व्यवहार की प्रधानता से व्यवहार का स्वरूप बताया है, अथवा एक आचार्य ने एक ग्रन्थ मे निश्चय को पुष्ट किया है, दूसरे ग्रन्थ मे उन्हीं आचार्य ने या दूसरे आचार्यो ने व्यवहार को पुष्ट किया है। तो क्या उन आचार्यों का कथन परस्पर विरोधी या सिद्धान्त-विरुद्ध माना जायगा, या उनमे एक अंश ही सत्य और दूसरा असत्य माना जायगा? तब तो आचार्य असत्य के पोषक ठहरते है। और उन्हें सत्य के साथ असत्य लिखने की क्या आवश्यकता थी? इन सब बातो के रहस्य को विद्वान् पुरुष अच्छी तरह समझते है और उन दोनो कथनो को विरोधी या एक को सत्य दूसरे को असत्य नहीं मानते है, किन्तु किसीको एक निरूपण में प्रधानता से दूसरे को दूसरे निरूपण मे प्रधानता से मानते है। एक को ही सर्वथा सत्य मानकर दूसरे निरूपण को असत्य बताना या मिथ्या ज्ञान बताना या उसे माननेवालो को मिथ्यादृष्टि बताना यह तो बतानेवाले का ही अज्ञान सिद्ध होता है। यदि उसका अज्ञान नहीं माना जाय तो समस्त आचार्य जो व्यवहारनय की विवक्षा से वस्तुतत्व एव व्यवहार-धर्म का शास्त्रो मे कथन कर चुके है वे सब मिथ्याज्ञानवाले एव मिथ्यादृष्टि ठहरते है। और आचार्यों के वचनो पर चलनेवाले एव उन्हे माननेवाले मिथ्याज्ञानवाले तथा मिथ्यादृष्टि ठहरते है। परन्तु वास्तव मे मिथ्यादृष्टि कौन माना जाता है, इस बात को आचार्य नेमिचद्र सिद्धांतचक्रवर्ती ने इस प्रकार बताया है:—

सुत्तादोतं सम्मं दरसिज्जतं जदा ण सद्दहदि
सोचेव हवदू मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुदि

—गोम्मटसार

अर्थात् आचार्यों द्वारा रचे हुए प्रमाणभूत सूत्रो (शास्त्रों) से बहुत अच्छी तरह बताने और समझने पर भी और उन शास्त्रो को दिखा देने पर भी जो उन शास्त्रों की बातों को नहीं मानता है वही जीव मिथ्यादृष्टि माना जाता है। इसका भी मूल कारण यह है कि दिगम्बर जैनधर्म धारण करने-वालो की समस्त धार्मिक क्रियाये और समस्त विचार वे ही ठीक और यथार्थ माने जाते हैं जो आचार्यप्रणीत शास्त्रों के अनुकूल हों। देव, गुरु, शास्त्रों पर निष्ठा और श्रद्धा रखनेवाला ही व्यवहार, सम्यग्दृष्टि माना जाता है। प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य ये चार बातें ही व्यवहार-सम्यग्दर्शन का चिन्ह है और यही व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति का मूल कारण है। विना व्यवहार-सम्यक्त्व के ग्रहण किये निश्चय-सम्यक्त्व कभी किसी जीव को नहीं हो सकता है, यह भी निश्चित शास्त्रसम्मत सिद्धांत है। विना व्यवहार सम्यक्त्व और क्रियात्मक व्यवहार-चारित्र का पालन किये कोई व्यक्ति आत्मा की अपनी स्वतन्त्र योग्यता से भेद-ज्ञान एव निश्चय, सम्यक्त्व प्राप्त कर लेगा, यह दिगम्बर जैनशास्त्रो के मत से सर्वथा असभव बात है।

श्री कानजी स्वामी से निवेदन

यदि आप स्वपरहित-साधन के लिये दिगम्बर जैन बने है तो आपका यह प्रधान कर्त्तव्य है कि आप चारो अनुयोगो के शास्त्रो का मननपूर्वक अध्ययन एवं स्वाध्याय करें। समयसार आदि निश्चयदृष्टि के कथन का उनसे समन्वय कर विचार मे लावें तो आपको सभी शास्त्रो का कथन पूर्वा-पर एक दूसरे से अविरुद्ध एव वस्तु-स्वरूप-विधायक ही

प्रतीत होगा। शास्त्रो मे अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, श्रुत-केवली एव वीतराग महर्षियों ने कोई बात मिथ्या या असत्य नहीं लिखी है जिसे आप व्यवहार से भी अमान्य और असत्य बता रहे हैं।

यदि आप अपनी स्वतंत्र विचारधारा को बदलकर शास्त्रों के अनुकूल बुद्धि रखकर मनन करेंगे तो जिनवाणी का एक-एक अक्षर आपको सत्य प्रतीत होगा। तब जो शास्त्राधार से आप प्रचार करेंगे और दिगम्बर जैन बनावेंगे तो उससे आपका और उन बननेवालों का सच्चा हित होगा। और मुनिगण, अन्य त्यागीगण, समस्त विद्वान् तथा धार्मिक समाज सभी आपका हृदय से आदर और प्रशसा करेंगे। उस समय आप सन्मार्ग के पथ-प्रदर्शक माने जायेंगे, और तभी मैं इस अपने ट्रैक्ट लिखने के परिश्रम को पूर्ण सफल समझूंगा। तब मुझे भी हार्दिक आनंद होगा।

यदि आपने अपनी स्वतंत्र विचारधारा को अथवा अपने स्वतंत्र मन्तव्यों को शास्त्रानुकूल नहीं बनाया और जैसा अभी आप प्रवचन करते हैं उसी दिशा मे लगे रहे तो आप बुरा भले ही माने मै स्पष्ट शब्दो मे यह कहता हू कि आप दिगम्बर जैनाभास और पक्के एक नया पंथ चलानेवाले माने जायेंगे। इसलिये आपका यह प्रथम कर्त्तव्य है कि आप अपने प्रभावक प्रवचनो और प्रचार-कार्य को छोड़कर शास्त्र-मर्मज्ञ विशिष्ट प्रौढ विद्वानों के साथ जिज्ञासा-बुद्धिपूर्वक सरलता एवं शान्ति से तत्व-निर्णय करें तथा शास्त्रो के रहस्य को भली भांति समझ ले। यदि आपकी बाते ही शास्त्राधार से ठीक हैं तो उन्हे विद्वानो के समक्ष रखकर उन्हें समझाने का प्रयत्न करे। ऐसा आपसे मेरा निवेदन है।

क्षमा-याचना

दिगम्बर जैनसिद्धान्त अक्षुण्ण बना रहे, उसमे कोई विकृति नहीं आवे, समाज का अहित नहीं हो, जैनेतर विद्वान विपरीत समझकर दिगम्बर जैनधर्म की अवहेलना नहीं करें तथा श्री कानजी स्वामी, जो दिगम्बर जैन हुए हैं और एक प्रभावक वक्ता हैं, उनका एव उनके द्वारा सबों का हित हो, धर्म की प्रभावना हो, इसी सदुद्देश्य एव अपने सरल सदभिप्राय से मैंने यह पुस्तिका (ट्रैक्ट) लिखी है। श्री कानजी स्वामी और उनके अनुयायियो के हृदयो को दुखाने एव उन पर किसी प्रकार का आक्षेप करने का मैंने मन मे भी कोई दुर्विचार नहीं रक्खा है। प्रायः प्रत्येक पक्ति में स्वामीजी ने शास्त्रो के व्यवहार-कथन को और उनके माननेवालों को मिथ्याज्ञानी और मिथ्यादृष्टि बताया है। उसके उत्तर मे शास्त्रों का प्रमाण देते हुए मुझे एक-दो स्थान में इतना अवश्य लिखने के लिए बाध्य होना पडा है कि उस व्यवहार-कथन को प्रमाण माननेवाले आचार्यगण या उसे अप्रमाण बतानेवाले दोनो मे कौन मिथ्याज्ञानवाले एव कौन मिथ्यादृष्टि हैं, सो पाठक समझेंगे। आचार्यो की पूज्यता, उनके सर्वोपरि महत्त्व और सम्यक्त्व-साधक श्रद्धा को ध्यान में रखते हुए इतना लिखना अनुचित भी मै नहीं समझता हूँ। फिर भी मेरे उन शब्दो से यदि श्री कानजी स्वामी और उनके अनुयायी महोदयो के हृदय मे कटुता का अनुभव हुआ हो तो मै उनसे हार्दिक क्षमा याचना करता हू। मेरा श्री कानजी स्वामी और उनके अनुयायियों से कभी कोई विरोध नहीं है। सभी प्रतिष्ठित हैं। केवल धर्म-रक्षण की दृष्टि से मेरा यह निरपेक्ष प्रयत्न है।

सर्व मंगलमांगल्य सर्व कल्याणकारकम्
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्

स्वतन्त्र विचार और अनेकान्त मे बहुत बडा भेद है

स्वतन्त्र विचारवाले लोग सदैव होते आये है। तभी तो अनेक मत-मतान्तर दीख रहे है। जब से भारत स्वतत्र हुआ है तब से तो शास्त्रीय एव व्यावहारिक मर्यादाओ को तोडकर स्वतत्र विचारवाले लोग स्वतंत्रता का लाभ अधिक लेना चाहते है। इतना ही नहीं किंतु वे अपनी साधना की सफलता एवं प्रतिष्ठा-सपादन के लिये सबो को स्वतन्त्र बनाने का विफल प्रयास भी कर रहे है। वे जिनवाणी और आचार्यो के वचनो की कोई परवा नहीं करते है। कुछ तो ऐसे लोग श्री कानजी स्वामी के मन्तव्यो के अनुयायी बन गये है। कुछ चचुप्रवेशी, पल्लवग्राही ऐसे-ऐसे सज्जन लोग भी उनके अनुयायी बन गये है जो निश्चय नय के सापेक्ष कथन को समझ नहीं सके है केवल एकान्त रूप मे उसीको सही मानकर निश्चया-भास मे उतर गये है एव व्यवहार को हेय समझकर उसका विरोध करते है। तीसरे वे लोग उनके अनुयायी बन गये है जो पहले दिगम्बर जैन नहीं थे, अब नवदीक्षित बने है। ऐसे लोग अपने पूर्वधर्म के विचार एव सस्कारो से सस्कारित होने के कारण दिगम्बर जैनधर्म के सिद्धान्त-रहस्य को समझ नहीं सके है और अपना मार्ग प्रदर्शक केवल कानजी स्वामी को मानकर उनके अनुयायी बन बैठे है। ये लोग उस नये ढंग मे ऐसे मुग्ध और तन्मग्न बन गये है कि पूर्वाचार्यो के

द्वारा बताये गये शास्त्रविहित सन्मार्ग की ओर वे दृष्टिपात भी नहीं करते है। ऐसे लोग ही कानजी स्वामी के जिन-धर्म विपरीत विषैले मन्तव्यो को भले ही अमृतकुम्भ समझकर उसका खूब पान करे तथा कानजी स्वामी अव्रती श्रावक है यह जानते हुए भी उन्हे वे परम पूज्य, सद्‌गुरुदेव, अध्यात्मयोगी, श्रुतकेवली, केवली आदि किन्हीं शब्दो से अपना आराध्य गुरुदेव मानें। यह उनकी इच्छा है। आज-कल किसीकी स्वतत्रता को कौन रोकना है? यह स्वतत्रता का युग है।

परतु विवेकशाली धार्मिक समाज दिगम्बर जैनाचार्यो के वचनों में दृढ श्रद्धा रखता है। शास्त्रो के द्वारा बताये हुए सन्मार्ग मे ही अपना पूर्ण कल्याण समझना है। वह धर्म कमशून्य मिट एव प्रभावक भाषणों के चक्र में कभी नहीं आ सकता है।

दिगम्बर जैनधर्म अनादि काल से अविच्छिन्न पूर्वापर अविरुद्ध रूप में चला आरहा है, उसकी निश्चय दृष्टि शुद्धात्म-तत्व अथवा मोक्षतत्व के स्वरूप को बताती है, तथा उसकी व्यवहार-दृष्टि उस शुद्धात्मतत्व अथवा मोक्षतत्व की प्राप्ति में साधन-रूप बनकर मोक्ष-मार्ग मे प्रवृत्त करा देती है। वे दोनो नय द्रव्य-पर्यायरूप है। वे परस्पर विरोधी नहीं है, किंतु साध्य-साधनरूप होने से दोनो ही प्रमाणभूत

है। इसीलिये भगवत्कुंदकुंद आचार्य प्रभृति समस्त दिगम्बर जैनाचार्यों ने जहां निश्चय को पूर्ण उपादेय बताया है वहां उन्होंने व्यवहार को भी पूर्ण उपादेय बताकर उसका भी विधान किया है। यही दिगम्बर जैनदर्शन का अनेकान्त वस्तु-स्वरूप है। बस इसी सिद्धान्त को समझने समझाने की आवश्यकता है।

२ फरवरी १९५७ मक्खनलाल शास्त्री

श्री कानजी स्वामी से ४६ प्रश्न

श्री कानजी स्वामी नीचे लिखे ४६ प्रश्नों का उत्तर शास्त्रों के प्रमाणों से ही देने की कृपा करें:—

(१) जब सिद्ध-पर्याय परम शुद्ध केवल निश्चयस्वरूप है तब सिद्धात्मा असंख्यात् प्रदेशवाला समस्त लोक मे नहीं रहकर केवल पुरुषाकार क्षेत्र मे ही क्यो रह गया ? जब पुरुष-पर्याय का निमित्त कुछ नहीं कर सकता है तब सिद्धात्मा पुरुषा-कार ही क्यो हुआ ?

(२) जीव का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है और आकाश अनत है, तब सिद्ध जीव लोकाकाश मे ही क्यो ठहर गया, अलोकाकाश मे क्यो नहीं गया ?

(३) चौदहवे गुणस्थान मे जीव के सम्यग्दर्शन, ज्ञान· चारित्रनं वीर्य सुख दर्शन आदि अनत अनुजीवी, (सत्तात्मक) आत्मा के गुण निश्चय रूप से प्रगट हो गये है या व्यवहार से ? यदि व्यवहार से माना जाय तो वे गुण मिथ्या असत्य है क्या ? फिर सिद्ध-पर्याय मे होनेवाले कौन-से गुण है ? यदि ये ही है तो उनमे क्या भेद है ?

(४) गुणस्थान, जीव के कर्मो के निमित्त से होनेवाले-भाव है या स्वय जीव के है ? जब कर्म आत्मा का व्यवहार से भी कुछ नहीं कर सकते हैं तो गुणस्थान भेद क्यो हुए ? और शास्त्रकारो ने इन कर्मों का वर्णन जो किया है उन कर्मों के उदय उपशम आदि की अपेक्षा से गुणस्थान बताये हैं। वह सब कथन आचार्यों का मिथ्या एव असत्य ही माना जाय क्या ?

(५) जब कर्म, व्यवहार से भी जीव का कुछ बिगाड़-बनाव नहीं कर सकते है तब कर्मों में घाति, अघाति, सर्वघाति, देशघाति एव ज्ञानावरणादि भेद आचार्यो ने किस नय से शास्त्रो मे बताये है ? वह सब मिथ्या असत्य कथन ही है क्या ?

(६) जब व्यवहार से भी कर्म जीव का कुछ नहीं कर सकते है तो जीव मे स्वभाव-भाव और विभाव-भाव ये दो भेद जीव के स्वय गुण से ही माने जाय तो वह कौन-सा गुण है ? वह गुण सिद्धों मे भी रहेगा तो वे विभाव-रूप भाव सिद्धो मे क्यो नहीं होते हैं ?

(७) जब जीव निश्चयनय से स्वय शुद्ध है तो कोई जीव मिथ्यादृष्टि कोई जीव सम्यग्दृष्टि स्वय किस गुण मे बन जाता है ? जब कर्म सबध व्यवहार से भी कुछ नहीं कर सकता तो जीव मे विकार-भाव स्वय जीव की किस योग्यता से या गुण मे आया ?

(८) उस योग्यता का क्या लक्षण है, वह योग्यता सिद्धो मे नष्ट हो जाती है या वहां भी बनी रहती है ? वह कौन-सा गुण है या पर्याय है ? और किसी भी दिगबर जैनाचार्य प्रणीत शास्त्र मे उस कर्मसबधरहित योग्यता का निश्चय या व्यवहार मे प्रमाण मिलता है तो उस शास्त्र का नाम प्रगट करिये ।

(९) केवलज्ञान का स्वभाव (लक्षण) सर्वप्रत्यक्ष है या एकदेश (अश रूप से) प्रत्यक्ष भी है ? यदि एकदेश खुला हुआ प्रत्यक्ष भी उसका लक्षण है तो किस दिगम्बर शास्त्र के अनुसार है, प्रमाण दीजिये । यदि मतिज्ञान भी केवलज्ञान के

साथ प्रगट रहता है तो सर्वप्रत्यक्ष और एकदेश प्रत्यक्ष दोनो विरोधी बाते एक साथ कैसे संभव हैं और किस शास्त्राधार से है ?

(१०) यदि इंद्रियो से ज्ञान मानना व्यवहार से भी मिथ्या है तो एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय आदि जीवो के भेद और भिन्न-भिन्न इंद्रियवाले जीवो के ज्ञान मे हीनाधिक भेद होते हैं, वे किस कारण से होते है ? और शास्त्रकारों ने वे सब इंद्रिय-ज्ञान के भेद बताये है सो क्या सब मिथ्या और झूठे है ? इंद्रियो से ज्ञान मानना व्यवहार से भी ठीक नहीं है इसका प्रमाण क्या ? और जब इंद्रियो से ज्ञान मानना असत्य है तो आंखों को बंद करने पर पदार्थ नहीं दीखते यह प्रत्यक्ष है, तो क्या जैनधर्म प्रत्यक्षबाधित बात को मानता है ?

(११) जब कुदेवादि के समान सुदेवादिक का श्रद्धा-पूजन भी धर्म नहीं किंतु मिथ्यात्व है, तो मिथ्यात्व का जानबूझकर सेवन आप क्यो करते है ? और सुदेवादिक की श्रद्धा-पूजा मिथ्यात्व है ऐसा कथन किस शास्त्र मे है ?

(१२) मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य-भक्षण का त्याग करना और अहिंसा आदि व्रतो के पालन करने के भाव करना भी मिथ्यात्व है, ऐसा कथन किस शास्त्र मे है ? प्रमाण दीजिये।

(१३) मुनिदान, तीर्थयात्रा, देव-पूजा, व्रताचरण आदि शुभ भाव-परंपरा भी मोक्ष के कारण नहीं हैं किंतु वे अधर्म हैं और संसार के ही कारण हैं, ऐसा कथन किस शास्त्र में है ?

(१४) देव-पूजा, मुनिदान, तीर्थ-यात्रा, तपश्चरण आदि बुद्धिपूर्वक किये जानेवाली क्रियाए केवल जड़ शरीर की क्रियाए

हैं, उनसे जीव का कोई सबंध नहीं है अथवा इनसे धर्म का कोई संबध नहीं है, ऐसा आपका मन्तव्य किस शास्त्र मे है ?

(१५) पुण्य और पाप ये दोनो क्या वस्तु है? उनका जीव से कोई संबंध है या नहीं ? या ये दोनो जड शरीर की क्रियाए है ? शास्त्राधार से बतावें ।

(१६) जब महाव्रत और तपश्चरण आदि आपकी दृष्टि मे मिथ्यात्व और जड़ शरीर की क्रिया है तब मोक्ष-प्राप्ति मे इनको आचार्य कुंदकुंद स्वामी आदि समस्त आचार्यों ने स्वरचित शास्त्रो मे अनिवार्य आवश्यक साधन क्यो बताया है ? ये सब विधान झूठे है क्या ? आप जो इन्हे जड शरीर की क्रिया और ससार का कारण बताते है, उसमे कौन शास्त्र प्रमाण है, बताइये ।

(१७) देव-पूजा, मुनिदान, तीर्थ-यात्रा, तपश्चरण आदि क्रियाए आपके मन्तव्यानुसार "जब जड शरीर की क्रियाए है और वे शुभ एव पुण्यरूप हैं तथापि वे अधर्म और ससार के कारण है, उन्हे धर्म मानना मिथ्यात्व है", तब आप स्वय मंदिरो का निर्माण क्यो कराते है और पूजा क्यो करते है ? क्या ससारवर्धक एव अधर्म-रूप क्रियाओ को कोई समझदार विवेकी पुरुष कर सकता है ?

(१८) देव-पूजा, तीर्थ यात्रा आदि क्रियाओ को हम अशुभ से हटने एव शुभ प्राप्ति के लिये करते है—यदि आप ऐसा उत्तर देते हैं तो शुभ को भी तो आप ससार का कारण बताते है । फिर क्या आप ससार चाहते हैं या उसकी निवृत्ति ? भावलिगी मुनि तो ससार नहीं चाहते हैं, वे देव-पूजा आदि क्यो करते है ?

(१६) सभी आचार्यों ने सभी शास्त्रो में व्यवहार सम्यग्दर्शन-पूर्वक की जानेवाली शुभ क्रियाओं को परपरा मोक्ष का कारण बताया है। तो क्या वे सब शास्त्र (आचार्यों के वचन) झूठे है ? तथा आप जो उन शुभ क्रियाओ को संसार का ही कारण बताते है, इसका शास्त्र-प्रमाण बताइये।

(२०) शुभ-अशुभ भाव जीव के विकार-भाव हैं या ये जड़ शरीर के है ? कुदेवादिक के सेवन से अशुभ तथा सुदेवादि के सेवन से जो शुभ भाव होते हैं वे सब शरीर की क्रिया से होते है और जड शरीर की क्रिया से जीव का कोई सबध आप मानते नहीं है, तो क्या वे शुभ-अशुभ भाव जड़ शरीर के होते है ? होते है तो शास्त्र-प्रमाण दीजिये। यदि वे भाव जीव के ही हैं तो शरीर की जड़ क्रिया से जीव के भावों का संबध मानना पडेगा। इन प्रश्नो का शास्त्रधार से क्या सदुत्तर है ?

(२१) आपके मन्तव्यानुसार जब निमित्त, उपादान के कार्य मे कुछ भी नहीं कर सकता है, केवल उपादान ही स्वयं अपनी योग्यता से कार्य कर लेता है तब निमित्त का प्रयोग और निमित्त की उपस्थिति कार्य मे क्यो आवश्यक मानी गई है ? तथा कार्य के समय निमित्त स्वय आकर उपस्थित हो जाता है तो सम्मेद-शिखर, गिरनार, सोनागिरि, गजपथ आदि तीर्थ-पर्वत आपके पास स्वय सोनगढ क्यो नहीं आगये, आप उनके पास मोटर रेलवे आदि से क्यों जा रहे है ?

(२२) सभी शास्त्रो मे कार्य की सिद्धि मे उपादान की पात्रता और निमित्त की सामर्थ्य दोनो को मिलकर अनिवार्य कारण बताया गया है। तो क्या वे सभी शास्त्र झूठे और

कल्पनात्मक हैं ? और आप निमित्त की सहायता का सर्वथा निषेध करते है, सो किस-किस शास्त्र-प्रमाण से करते है, बताइये।

(२३) सूर्य, अग्नि, बिजली इनके ताप से पानी गरम नहीं होता है, किंतु स्वय वह अपनी योग्यता से गरम हो जाता है; तो उसकी वह योग्यता अग्नि, बिजली आदि का सयोग मिलने पर ही प्रगट होती है या विना उन निमित्तो के भी कभी प्रगट होती है ?

(२४) आप क्या अग्नि, जल को पृथक्-पृथक् द्रव्य मानते है? यदि मानते है तो वैसा प्रमाण बताइये। यदि नहीं तो फिर एक द्रव्य की अग्नि और जल इन दोनों पर्यायो को भी कार्य-कारण रूप मे आप नहीं मानते हैं—यह आपके मन्तव्य से ही विरोध आता है। अन्यथा पानी के गरम होने मे अग्नि को सहायक निमित्त आपको मानना ही पडेगा। उत्तर दीजिये।

(२५) जब आत्मा की मोक्ष-सिद्धि स्वय केवल आत्मा की योग्यता से ही हो जाती है, तो बाह्य परिग्रह को छोडना, नग्नता धारण करना, पीछी-कमंडलु रखना, केशलोच करना, महाव्रत पंच-समिति पालना इत्यादि बाह्य निमित्तो के ग्रहण किये विना भी कभी जीव ने मोक्ष प्राप्त की है ? की हो तो बताइये। यदि उपर्युक्त बाह्य निमित्त कुछ भी नहीं कर सकते है तो इनको मोक्ष-प्राप्ति मे शास्त्रकारो ने अनिवार्य साधक क्यो बताया है ? क्या वे सब शास्त्र मिथ्या कहते है ? या आप जो उनके विरुद्ध कहते है उसका प्रमाण बताइये।

(२६) सभी पीछी-कमंडलु और नग्नता धारण करनेवाले मुनि अंतरंग मे भावो की विशुद्धि के विना मोक्ष नहीं जा सकते है। उपादान की योग्यता या पात्रता भी आवश्यक है। उपादान

निमित्त दोनों मिलकर कार्य-साधक है, ऐसा तो शास्त्र बताते हैं, परंतु आप बाह्य कारणों को सर्वथा कार्य-साधक नहीं मानते है। तो नग्नता, केशलोंच, महाव्रत धारण करने के बिना भी स्वय आत्मा अपनी योग्यता से मोक्ष को क्यो नहीं पालता है ? आपके मत से सभी आत्माएं मोक्ष को चली जानी चाहिये,—क्या सदुत्तर है ?

(२७) जीव को मारने मे आप हिंसा नहीं मानते हैं। उमे तो आप इन शब्दो मे कहते है कि "जड़ शरीर से जीव को पृथक् कर देने मे जो हिंसा बताते है वे मिथ्यादृष्टि है। जीव की रक्षा करू या जीव पर दया-भाव रक्खू वास्तव में यही हिंसा है।" यह हिंसा-अहिंसा का स्वरूप किस शास्त्र मे है ? प्रमाण बताइये।

शास्त्रकारो ने कायिक, वाचनिक, मानसिक हिंसा के जो भेद बताये है और दश प्राणो के वध को हिंसा बताया है तथा जीव-रक्षा एव दया-भाव को धर्म बताया है, सो वह सब आचार्यों का कहना मिथ्या झूठ है, सिद्ध कीजिये।

(२८) आपके कथनानुसार जब जीव को कोई मार नहीं सकता है और जड शरीर का जीव से पृथक् कर देना हिंसा नहीं है, तो मुनिगण पीछी क्यो रखते है ? और धरती को देख-देख कर त्रस जीवो को तथा स्थावर जीवो को बचाते हुए ईर्यासमिति से क्यो चलते है? और उन्हे त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा के त्यागी तथा गृहस्थ को केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी क्यो शास्त्रो में बताया गया है ? यह सब शास्त्रो का कथन झूठा एव कल्पना-रूप ही है क्या ? सप्रमाण बताइये।

(२९) जब जीव को मारना हिंसा नहीं है तो आरंभी, उद्योगी, विरोधी, संकल्पी ये चार भेद हिंसा के क्यों बताये गये है और संकल्पी हिंसा को महापाप क्यों शास्त्रकारो ने कहा है ? यदि यह सब दिगम्बर जैनधर्म की मानी हुई हिंसा का स्वरूप झूठा और मिथ्यात्व है, तो आप जो बताते है उसका प्रमाण दीजिये ।

(३०) जड़ शरीर से आत्मा को पृथक् कर देने मे जीव को दु.ख या पीड़ा होती है या नहीं ? यदि पीडा होती है तो "प्राण पीडन हिंसा" इस सर्वार्थसिद्धि एव राजवार्तिक के कथनानुसार तो जीव को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। आप उसे हिंसा नहीं मानते है या उन शास्त्रों को प्रमाण नहीं मानते हैं ? तो अपने मत के अनुसार हिंसा का लक्षण बताइये और शास्त्रो का प्रमाण दीजिये। यदि पीडा पहुँचाने को आप हिंसा मानते है तो आपका कहना असत्य एव मिथ्या ठहरता है। कौन-सी बात सत्य है ?

(३१) जैनधर्म का अनेकांत स्वरूप होने से निश्चय और व्यवहार दोनो रूप में उसे प्रमाण आप मानते है या नहीं ? अथवा द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ होने से द्रव्य-पर्याय दोनो को वस्तु-स्वरूप आप मानते है या नहीं ? यदि मानते है तो निश्चय और द्रव्य के समान व्यवहार और पर्याय भी आपको सत्य यथार्थ मानना पडेगा। फिर आप व्यवहार को सर्वथा असत्य और मिथ्या क्यो बताते है ?

(३२) जीव के राग-द्वेष भाव और उसका शरीर के साथ सम्बन्ध दोनो व्यवहार से कहे जाते है। तो क्या यह व्यवहार झूठा है ? शरीर का सम्बन्ध और जीव मे होनेवाले क्रोध, मान आदि विकारी भाव आपके मत से यथार्थ नहीं है, केवल कल्पना या भ्रम-रूप है, यदि केवल भ्रम-रूप है तो क्या जैनधर्म वेदान्त-

वाद के समान प्रत्यक्ष पदार्थों का लोप करनेवाला है ? यदि वे सब सत्य है, वास्तव मे वस्तुस्थिति-रूप यथार्थ हैं, तो फिर व्यवहारनय भी सत्य और यथार्थ क्यों नहीं है ? फिर आप व्यवहार को सर्वथा असत्य और मिथ्या क्यों बताते हैं ?

(३३) शरीर-संबध और राग-द्वेष जीव के साथ सदैव नहीं रहते हैं, वे निमित्त से ही होते है, स्थायी नहीं है, जीव के वे निज शुद्ध स्वरूप भी नहीं है। इसलिये ही उस पर-निमित्त से होनेवाली मिश्रित पर्याय को व्यवहार कहा जाता है और जीव की शुद्ध पर्याय-निश्चय दृष्टि-से उस व्यवहार को अयथार्थ कहा-जाता है, यह ठीक है या आप उसे सर्वथा असत्य भ्रमात्मक, मिथ्या बताते हैं सो ठीक है ? शास्त्राधार से बतावे।

(३४) व्यवहार और निश्चय का क्या शास्त्रोक्त लक्षण है ? सप्रमाण बताइये।

(३५) यदि आपके कथनानुसार व्यवहार सर्वथा मिथ्या और असत्य है, तो निश्चयनय भी क्यों मिथ्या नहीं ठहरेगा, क्योंकि दोनो नय सापेक्ष ही एक दूसरे की अपेक्षा से ही वस्तु का पूरा स्वरूप बताती हैं। निरपेक्ष नय तो नयाभास है, और व्यवहार को छोडकर केवल निश्चय नय को मानने से प्रमाण कैसे सिद्ध होगा ? वह तो उभयनयात्मक है। इन शास्त्रोक्त निर्णीत सिद्धान्तों का आप क्या सदुत्तर देते हैं ? शास्त्राधार से बताइये।

(३६) आप पर के निमित्त से एव तीर्थंकर के निमित्त से आत्मा का कोई भी लाभ नहीं मानते है तो तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि से मोक्ष-मार्ग पर्ण रूप से चालू होगया,

मुनिमार्ग चालू होगया, तीर्थंकर जीवो के कल्याणकर्त्ता महान् उपकारी है। इसीलिये अनादिसिद्ध णमोकार मंत्र मे सिद्धों से भी पहले उनका नाम और उनको नमस्कार आया है। यह सब शास्त्रों का कथन आपकी समझ से मिथ्या है तो आपका कहना कौन-से शास्त्र से प्रमाण-भूत माना जाय, बतावे।

(३७) सर्प बिच्छू के काटने से फैलनेवाले विष को मन्त्रो से दूर कर दिया जाता है यह प्रत्यक्ष बात झूठ है क्या ? णमोकार मन्त्र अनादिसिद्ध मंत्र है, इसके जपन से अनेको का उद्धार एव कार्य-सिद्धि हुई है, होती है, ऐसा चरणानुयोग एव प्रथमानुयोग शास्त्रो मे बताया है। तो क्या वे सब शास्त्र केवल कल्पनात्मक है ? या तो णमोकार मंत्र का प्रभाव माने या निषेध मे प्रमाण बतावे।

(३८) शिल्पी के घर मे पडी हुई प्रतिमा मे और मन्त्रों द्वारा सस्कारित की गई मदिरा मे प्रतिष्ठित प्रतिमा मे अपूज्यता और पूज्यता का भेद आप मानते है या नहीं ? या दोनो प्रकार की प्रतिमाये समान मानते है ? यदि भेद है तो आपका मन्तव्य (परनिमित्त कुछ नहीं कर सकता) मिथ्या है। यदि आपका मन्तव्य ठीक है तो फिर आप प्रतिष्ठाए क्यों कराते है ? या शास्त्रो मे प्रतिष्ठा का विधान क्यो है ? सप्रमाण उत्तर दीजिये।

(३९) आत्मा को मोक्ष भेदज्ञा रूप वीतराग सम्यग्दर्शन और आत्मा की स्थिरता रूप निश्चय चारित्र से ही होता है या सच्चे देव शास्त्र गुरु की श्रद्धारूप व्यवहार सम्यक्त्व और देव-पूजा, मुनिदान तीर्थयात्रा, व्रताचरण एव तपश्चरण आदि व्यवहार-चारित्र भी मोक्ष-प्राप्ति मे कारण है ? दोनो मे आप किसको प्रमाण मानते है और किसे असत्य और मिथ्या बताते है ?

शास्त्र-प्रमाणों से बतावे। और शास्त्रों मे जो व्यवहार-सम्यक्त्व और व्यवहार-चारित्र को मोक्ष-साधक बताया गया है वह कथन अप्रमाण किस शास्त्राधार से माना जाय ?

(४०) यदि मोक्ष-प्राप्ति में व्यवहार-सम्यग्दर्शन और व्यवहार-चारित्र कुछ भी कार्यकारी आपके मत से नहीं हैं तो फिर मुनि और श्रावक का बाह्य चिह्न या बाह्य लक्षण क्या है जिससे मुनि और श्रावक की पहचान की जाय ? शास्त्र-प्रमाण बताइये ?

(४१) जब कि "मैं महाव्रत धारण करू" इस विचार को भी मिथ्यात्व आप बताते है और एक मुनि को अग्नि मे जीवित भी जला दिया जाय, थोड़ा भी क्रोध नहीं करे तो भी वह क्षमावान् नहीं है क्योंकि उसके बाह्य चारित्र का विकल्प रूप मिथ्यात्व मौजूद है, ऐसा भी आप कहते है तो क्या आपकी दृष्टि मे वर्त्तमान आचार्य और मुनियो में कोई भावलिंगी भी है या सभी द्रव्यलिंगी है ? शास्त्र-प्रमाण से उत्तर दीजिये।

(४२) इन्द्रियों से आत्मा नहीं देखता है, इस आपके मन्तव्य के अनुसार यदि इन्द्रियो से देखने में सहायता नहीं मिलती है तो भरतचक्रवर्ती आदि चक्रवर्ती अयोध्या से निषधाचल पर्वत पर सूर्यस्थ जिनेद्र प्रतिमा के दर्शन करते है और ४५२६३ योजन नेत्रेंद्रिय द्वारा देखने का विषय-क्षेत्र करणानुयोग शास्त्रो मे बताया गया है वे सब शास्त्र असत्य एव अप्रमाणिक माने जाय क्या ? आपका क्या उत्तर है ? आप जो कहते है उसका विधायक कौन-सा शास्त्र है ? सो बताइये।

(४३) गणित ज्योतिष एक निर्णीत एवं पूर्ण प्रमाणिक सिद्धांत है। उसके अनुसार चन्द्र-सूर्य के चारक्षेत्र में राहु-केतु के आजाने से राहु-केतु के निमित्त से ही चन्द्रग्रहण और सूर्य-

ग्रहण पड़ता है जिसे ज्योतिषी विद्वान वर्षों पहले प्रगट कर देते हैं और वह सदैव सत्य ही सिद्ध होता है। क्या यह गणित-निर्णीत ज्योतिष शास्त्र झूठा है? या आप जो कहते हैं कि निमित्त कुछ नहीं कर सकता है तो सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण में राहु-केतु निमित्त नहीं माने जाय तो सूर्य-चन्द्र ग्रहण अपने आप सदैव पड़ने चाहिये। सदैव नहीं पडते है, पूर्णिमा और अमावास्या को ही पड़ते हैं, इसमे क्या कारण है? बताइये।

(४४) आपके कथनानुसार यदि शरीर की क्रिया जड़ क्रिया है, उससे धर्म का कोई सबध नहीं है, इसी प्रकार बाह्य व्रताचरण का भी धर्म से सम्बन्ध नहीं है तो एक व्यक्ति कुशील-सेवन, चोरी करता है और जीवो को मारता है, दूसरा व्यक्ति इन तीनों का त्यागकर अचौर्य और ब्रह्मचर्य व्रत धारण करता है तथा जीवो की रक्षा करता है। आपकी समझ से दोनो व्यक्ति समान हैं या दोनो मे भेद है, क्योंकि दोनो की क्रिया जड़ शरीर की क्रिया है और बाह्य आचरण है? यदि आप उत्तर मे यह कहे कि दोनों में एक शुभ दूसरी अशुभ क्रिया है तो आपके मन्तव्यानुसार शुभ-अशुभ दोनो ही ससार के कारण है और शुभ मे धर्म मानना मिथ्यात्व है। फिर दोनो व्यक्तियो मे क्या भेद माना जाय? और चोरी, कुशील-सेवन एव जीव-हिंसा को अधर्म तथा उनके त्याग मे धर्म बतानेवाले कुदकुंद स्वामी आदि आचार्यों के रचे हुए शास्त्र असत्य माने जाय क्या? शास्त्राधार से उत्तर दीजिये।

(४५) आपके मन्तव्यानुसार यदि सत्समागम कुछ नहीं कर सकता है तो तीर्थंकर केवली, सामान्य केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में उनके समागम से ही परिहार विशुद्धि चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा तीर्थंकर प्रकृति का बंध शास्त्रो मे

बताया गया है, वे सब शास्त्र असत्य माने जाय क्या? देशना-लब्धि सद्गुरु से प्राप्त किये विना अनादि मिथ्यादृष्टि को कभी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है, ऐसा जो नियम शास्त्रकारो ने बताया है यह नियम या शास्त्र असत्य है क्या? आप जो सत्समागम से कुछ भी लाभ नहीं बताते है वह सिद्धान्त किस शास्त्र द्वारा माना जाय? बताइये। महावीर स्वामी के पूर्वभव मे सिंह-पर्याय मे मुनिराजो का उपदेश सुनकर महावीर स्वामी के जीव ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, यह शास्त्रो का कथन मिथ्या है क्या?

(४६) सम्मेदशिखर की वदना को आप शुभ राग एवं संसार का कारण बताते है, उसे धर्म समझना मिथ्यात्व है, पर पदार्थ आत्मा का कुछ कर नहीं सकता ऐसा भी कहते हैं, परंतु शास्त्रो मे शिखरजी की भावपूर्ण वंदना को भव्यत्व-सूचक मोक्ष का कारण बताया है। कुछ ही भवो मे सम्मेद-शिखर की भावपूर्ण वदना करनेवाला मोक्ष जा सकता है, ऐसा बताया है। आप उस बाह्य क्रिया को अधर्म और संसार का कारण किस शास्त्राधार से कहते है? सप्रमाण बताइये।

नोट—(१) उपर्युक्त ४६ प्रश्नो का उत्तर दिगम्बर जैनाचार्यो द्वारा रचे हुए शास्त्रो के प्रमाणो से ही देना चाहिये।

(२) श्री कानजी स्वामी से ये प्रश्न किये गये हैं, इनका उत्तर उन्हे ही देना चाहिये, अथवा उनके आदेश से उनके निकट मे रहनेवाले उनके प्रधान शिष्य श्री रामजी माणिकचंद्रजी दोशी वकील महोदय भी दे सकते है।

(३) उन दोनो के अतिरिक्त कोई भी महाशय उत्तर देने का कष्ट नही उठावे। उनके उत्तर पर कोई ध्यान नहीं दिया जायगा।

(४) शास्त्रो के उभयनय-विवेचित एवं पूर्वापर समन्वित समष्टि-रूप आचार्यों के दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर ही उत्तर देना चाहिये।

(५) इन प्रश्नो का समीचीन शास्त्र-प्रमाणित उत्तर ही दिगम्बर जैनत्व की कसौटी है।

दिनांक ३१-१-५७

मक्खनलाल शास्त्री
मोरेना (मध्यप्रदेश)

धन्यवाद

अतीव धार्मिक एवं सरलपरिणामी तीर्थभक्तशिरोमणि श्री सेठ बालचंदजी पाटनी (प्रसिद्ध फर्म–सेठ चांदमल धन्नालालजी पाटनी, कलकत्ता) तथा धर्मकार्यों में सतत् सहयोग देनेवाले एव सिद्धान्त-सरक्षिणी सभा बम्बई—केंद्रीय सभा के स्थायी सभाध्यक्ष श्री बाबू चांदमलजी बड़जात्या (प्रसिद्ध फर्म—सेठ भवरलाल चांदमलजी, कलकत्ता) इन दोनों महानुभावो का विशेष आग्रह मेरे इस ट्रैक्ट लिखने में निमित्त हुआ है।

भा० व० दिगम्बर जैन सिद्धान्त-सरक्षिणी शाखा-सभा, कलकत्ता ने इस ट्रैक्ट को प्रकाशित किया है। उस सभा के सुयोग्य सदस्य—श्री बाबू नागरमलजी (प्रसिद्ध फर्म–सेठ केसरीमल निहालचदजी, कलकत्ता), श्री बाबू झूमरमलजी (फर्म-बाबू झूमरमल जयचदलालजी बगडा, कलकत्ता) आदि सभी सदस्य महानुभाव तथा धर्मोत्साही कार्यकर्त्ता श्री सेठ झूमलमलजी सभापति (प्रसिद्ध फर्म–सेठ लालचंद दीपचंदजो, कलकत्ता), माननीय श्री बाबू डूगरमलजी सबलावत, मंत्री सभा (प्रसिद्ध फर्म-सबलावत ट्रैडिंग कपनी, कलकत्ता) तथा शान्तपरिणामी प्रतिभानिष्ठ श्री० पं० बाबूलाल जी महोदय–स० मत्री, कलकत्ता।

उपर्युक्त सभी महानुभावो को मै हार्दिक धन्यवाद देता हू। ये सभी महानुभाव धार्मिक कार्यों मे सदैव योग देते रहते है।

श्री० बाबू इद्रचद्रजी छाबड़ा—खजांची स्टेट बैंक, लश्कर को भी मैं विशेष धन्यवाद देता हू। इन्होने मुझे आत्मधर्म की फाइले लाकर दीं, और जो धर्म की लगन रखनेवाले अतीव सज्जन सत्पुरुष हैं।

विनीत

मक्खनलाल शास्त्री

निवेदन

वन्दनीय पूज्य त्यागियो ! विचारशील विद्वानो !
धर्मनिष्ठ श्रीमानो !

इस ट्रैक्ट मे श्री कानजी स्वामी के मन्तव्यो को सप्रमाण उद्धृत किया गया है, तथा उनके मन्तव्यो का परिहार भी पूर्वाचार्यो द्वारा रचित शास्त्रो के प्रमाणों से विशद रूप से किया गया है।

इस ट्रैक्ट को पूरा पढ़कर आप स्वयं इस परिणाम तक पहुँच गये होंगे कि कानजी स्वामी के सभी मन्तव्य दिगम्बर जैन-शास्त्रो के अनुकूल है या सर्वथा विपरीत है।

जिस निर्णय तक आप पहुँचे हो, कृपा कर उससे मुझे भी अवगत कराने का कष्ट करें, ताकि मै भी अपने शास्त्रानुमोदित औचित्य पर आपका दृष्टिकोण समझ सकूँ।

विनीत

दिनांक ३१-१-५७

मक्खनलाल शास्त्री 'तिलक'
पोस्ट मोरेना (मध्यप्रदेश)

शुद्धि अशुद्धि पत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
१	मुक्तिवाद	युक्तिवाद
८	कारणों	प्रकरणों
१३	कार्यया	कार्मण
१३	संसादियों	संसारियों
१६	हिंसा	अहिंसा
२०	तत्र	तत्त्व
२१	काम	काय
२५	रोषणा	एषणा
२६	अनु व	अनुभव
२८	(कार्य)	(कर्म)
३०	भावे प्रियम्	भावेन्द्रियम
४१	स्वतंत्र	सातवाँ
४८	छद्यस्थ	छद्मस्थ
५२	भावन्ति	यावन्ति
५२	जल	तल
५३	पई	भाई
५६	कार्यों	कर्मों
५६	सामाजिक	सामायिक

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
८१	अआकाश	आकाश
८६	क्षणिक	क्षायिक
९१	औपधादिक	औपपादिक
११६	तद्द्योः	तद्वयोः
११७	वर्णायन्तय	वर्णायन्त्य
११९	यत्वा	भत्वा
१३८	ज	जो
१४०	अनिवाय	अनिवार्य
१४५	आचाय	आचार्य
१४७	कम	कर्म
१४९	नं. वीर्य	अनंतवीर्य
१५५	पालता	पा लेता
१५७	पर्ण	पूर्ण
१५८	भेदज्ञा	भेदज्ञान